





श्रीसोमप्रभाचार्यविरचित  
सूक्तिमुक्तावली



संस्कृतटीकाकार —  
श्रीद्वर्पकीर्तिधरिः

(१३)

सम्पादक —  
परमपूज्य १०८ श्री अजितमागरजी महाराज



प्रकाशक  
श्री शांति धीर दि० जैन सस्थान  
शांति धीर नगर, भोमदाधीरजी

द्रव्य दाता —  
 श्री नन्दलालजी भागीलालजी  
 होमापुर ( नागालेण्ड )



प्रथमावृत्ति  
 १०००

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा  
 धी० नि० स० २४६८

मूल्य  
 स्वाध्याय

प्राप्तिस्थान—  
 श्री शान्ति वीर नगर  
 भीमहावीरजी (राज०)



मुद्रक—  
 नैमीचन्द शाकलीवाल  
 कमल प्रिन्टर्स  
 भदनागज-किशनगढ़

## आद्य वक्तव्य

दिवगत आचार्य प्रवर श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के सुशिष्य वर्तमान मधनायक परमपूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुत-सागरजी सपथ १०८ श्री अन्तिसागरजी महाराज निरन्तर ज्ञान-राधना में तन्मग्न रहते हैं। उन्हें सुभाषित श्लोकों का सकलन बहुत प्रिय है इसीके फलस्वरूप उनके द्वारा मकलित सुभाषित मञ्जरी के दो भाग और सुभाषितावली ये तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। तत्पश्चात् १०८ श्री अजितसागरजी महाराज का ध्यान सूक्ति-मुक्तावली जिसका दूसरा नाम सिन्दूरप्रकर पर गया। यह लघु काव्य ग्रन्थ होते हुये भी बहुत ही लोकप्रिय नीति काव्य है, अपनी सरस और सरल रचना के द्वारा संस्कृतसाहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इसमें एकमौ सुभाषित श्लोकों का समूह है, जिसमें धर्मोपदेश, तीर्थंकर भक्ति, जिनमतभक्ति, गुरुभक्ति, सपथभक्ति, पञ्च पापों का त्याग, चतुःकपायके दोषों का कथन, गुणितन सद्गति, इन्द्रियदमन, दान-फल, तपःफल इत्यादि अनेक विषयों पर हृदयमाही वर्णन है। यह रचना सरल, सरस तथा सुनोष है। इन्हीं श्लोकों के आधार पर हिन्दी जैन कवि श्री जनारसीदासजी द्वारा हिन्दी पद्यानुवाद भी रचे गये हैं। जो कई वर्ष पूर्व मूलसहित प्रकाशित हो चुका है। इस मूल ग्रन्थ के कर्ता श्री सोमप्रभाचार्य हैं। ये अपने समय के सुप्रतिष्ठित विद्वान् थे, धर्म शास्त्रों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था, तब शास्त्र में ये बहुत पटु थे, काव्य रचना में भी इनकी अच्छी गति थी, व्याख्यानकला में ये अति निपुण थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ की संस्कृत टीका के रचयिता श्री हर्षकीर्ति सुरि हैं। आप वैद्यक, ज्योतिष छन्द, व्याकरण और काव्य आदि अनेक

विषयों के सुप्रसिद्ध विद्वान थे। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ को परम पूज्य  
१०८ श्री अजितसागरजी महाराज द्वारा जन साधारण जीवों के  
सदुपयोगी ज्ञान सम्पादन कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा  
है। आशा है पाठकगण इससे यथार्थ लाभ उठावेंगे।

इसके प्रकाशन में भी मदलालजी मांगीलालजी पोस्ट  
हीमापुर ( नागालेण्ड ) निवासियों ने आर्थिक सहयोग देकर अपनी  
चञ्चल लक्ष्मी का सदुपयोग किया है, एतद्वय उन्हें शतश  
धन्यवाद है।

ब्र लाडमल

अधिष्ठाता श्री शातिवीर गुरुकुल, श्री महावीरजी

## अथ समर्थयति ?

सोमप्रभाचार्यमभा च यन्न पुसां तमपङ्कमपाकरोति ।

तदप्यमुष्मिन्नुपदेशलेशे निश्म्यमानेऽनिश्मेति नाश ॥९९॥

व्याख्या—सोमप्रभा च द्रकातिरच पुन अर्थमभा  
अर्थमा सूर्यो भा प्रभा सूर्यप्रभाऽपि पु सा ( जीवाना ) यत्तम पङ्क  
अ धकारकर्म न अपाकरोति न दूरीकरोति । तदपि तादृशमपि  
तम पङ्क अज्ञानपाप अमुष्मिन् उपदेशलेशे ( धर्मोपदेशलयेपि )  
निश्म्यमाने अर्थमाणे सति अनिश निर तर नाश क्षय पति याति ।  
एतच्चक्षुषणाक्षम अज्ञान पाप च याति । अत्र सोमप्रभाचार्य इति ग्रन्थ-  
कृता स्वनामापि सूचित ॥ ९९ ॥ इति पाठांतरम् ।

## जिनस्तुतिः

त्रिभुवनगुरो ! जिनेश्वर परमानन्दैककारण कुरुष्व ।  
मयि किङ्करेऽत्र करुणा यथा तथा जायते मुक्तिः ॥१॥  
निर्विण्णोऽहं नितरामहं बहुदुःखया भगस्थित्या ।  
अपुनर्भयाय भगहर कुरु करुणामत्र मयि दीने ॥२॥  
उद्धर मा पतितमतो विषमाद्भवकृपतः कृपा कृत्वा ।  
अहन्नलमुद्धरणे त्वमसीति पुनः पुनर्वचमि ॥३॥  
त्व कारुणिकः स्वामी त्वमेव शरण जिनेश तेनाऽहम् ।  
मोहरिषुदलितमान पूत्करण तत्र पुरः कुर्वे ॥४॥  
ग्रामपतेरपि करुणा परेण कैमाप्सुपद्रुते पुंसि ।  
जगतां प्रभो ! न किं तव जिन मयिरालु कर्मभिः प्रदत्ते ॥५॥  
अपहर मम जन्म दयां कृत्वा चेत्येकमचसि वक्तव्यं ।  
तेनातिदग्ध इति मे देव बभूव प्रलापितम् ॥६॥  
तत्र जिन चरणाब्जयुग करुणामृतशीतल यावत् ।  
ससारतापतप्तः करोमि हृदि तावदेव सुखी ॥७॥  
जगदेकशरण ! भगवन् ! नमि श्रीपद्मनन्दितगुणौघ ।  
किं बहुना कुरु करुणामत्र जने शरणमापन्ने ॥८॥

धनारसी विलास में प्रकाशित सूक्तिमुक्तावली में निम्न  
पाँच श्लोक विशेष पाये जाते हैं —

वाञ्छा सज्जनमगमे गुरुजने प्रीतिर्गुरोर्नम्रता,  
विद्याया व्यसन स्वयोपितिरतिलोकापवादाद्भय ।  
भक्तिश्चार्हति शक्तिरात्मदमने ससर्गमुक्तिः खले,  
यस्यैताः परिणामसुन्दरकला श्लाघ्य मध्य भित्तौ ॥१॥

निन्दा मुञ्च शमासृतेन हृदय स्त सिञ्च वञ्च क्रुध,  
मन्तोष भञ्ज जनेष्व्वात्मप्रशमां त्यज ।

# विषयसूची

क्रमसंख्या	विषयनाम	पृष्ठ
१	मङ्गलाचरणम्	१
२	धर्मोपदेशप्रक्रम	५
३	उपदेशद्वारप्रक्रम	१२
४	तीर्थकरभक्तिप्रक्रम	१४
५	गुरुभक्तिप्रक्रम	२०
६	जिनमतभक्तिप्रक्रम	२६
७	सधभक्तिप्रक्रम	३१
८	अहिंसाप्रक्रम	३६
९	सत्यप्रक्रम	४१
१०	अस्तेयप्रक्रम	४५
११	ब्रह्मव्रतप्रक्रम	५०
१२	परिग्रहत्यागप्रक्रम	५५
१३	क्रोधजयप्रक्रम	६०
१४	मानजयप्रक्रम	६५
१५	मायात्यागप्रक्रम	६८
१६	लोभत्यागप्रक्रम	७४
१७	सौजन्यप्रक्रम	७६
१८	गुणिसङ्गतिप्रक्रम	८४
१९	इन्द्रियजयप्रक्रम	८६
२०	एकमीत्यभावप्रक्रम	९५



क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ
२१	दानप्रक्रम	१०१
२२	तपःप्रक्रम	१०७
२३	भावनाप्रक्रम	११२
२४	वैराग्यप्रक्रम	११८
२५	सामान्योपदेशप्रक्रम	१२३
२६	प्रगति	१२३
२७	पञ्चपरमेष्ठिस्तुति	१३५
२८	आचार्यकल्प श्रीश्रुतसागरस्तुति	१३६

## सूक्तमुक्तावल्या प्रयुक्तछन्दाना विवरण

क्रमाङ्क	छन्दनाम	संख्या
१	शादूँलविक्रीदित	२३
२	इन्द्रवज्रा	३
३	मन्दाग्न ता	३
४	शिखरिणी	१५
५	वशाथ	३
६	मालिनी	७
७	हरिणी	६
८	वसन्ततिलका	५
९	अपेन्द्रवज्रा	२
१०	पृथ्वी	२
११	सुगंधरा	१

श्री १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज



सुल्लक्ष्मी वि० स० २०००  
 फाल्गुन शुक्ला पञ्चमी  
 सिद्धवरकूट

✱

मुनिदीक्षा वि० स० २००६  
 आपाद शुक्ला एकादशी  
 नागौर

समाधि वि० स० २०२६, फाल्गुन कृष्ण अमावस्या, " " "





श्रीबीतरागाय नमः

श्री सोमप्रभाचार्यविरचिता

# सूक्तिमुक्तावली

( हर्षकीर्तिस्मरितव्याख्यासहिता )

[ मङ्गलाचरण ]

श्रीमत्पार्ष्णिजिन नत्वा, स्वानसायस्य कारक ।

सप्रः सस्मृतिमात्रेण, प्रत्यूहव्यूहवारक ॥ १ ॥

श्रीचन्द्रकीर्तिस्मरीणां, सद्गुरुणांप्रसादतः ।

सिन्दूरप्रकरव्याख्या, क्रियते हर्षकीर्तिना ॥ २ ॥ पुष्प

अयं प्रत्यकर्ता आदौ इष्टदेवताचरणस्मरणरूपमङ्गला-  
चरणपूर्वकं श्रोतुं प्रति आशीर्वादवृत्तमाह

( शार्दूलविक्रीडितछन्दः )

सिन्दूरप्रकरस्तपः करिशिर कोठे कषायाटवी

दानार्चिचर्निचयः प्रमोघदिवसप्रारम्भयुयोदयः ।

मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकु कुमरस' श्रेयस्तरो पल्लव  
 प्रोन्लासः क्रमयोर्नखद्युतिभर' पार्वप्रमो पातु व. ॥१॥

व्याख्या-पार्वप्रमो श्रीपार्वनाथस्य क्रमयोश्चरणयो  
 र्नेत्यद्युतिभर नखजातिसमूहो वो युष्मान् पातु अतु रक्षतु ।  
 कथभूतो नखद्युतिभर तप करिशिर कोठे सिदूरप्रकर तप एव  
 फरी हरी तस्य शिर कोठोमस्तकमध्यभाग कुम्भस्थल तत्र सिदूर-  
 प्रकर सिन्दूरपुञ्ज कुकुमसदृशः नरन्युतिभरस्य रक्तत्वात् ।  
 सिन्दूरप्रकरोपमा पुन कथभूत कपायाटवी दावाच्चिर्निचय कपाया  
 क्रोधमानमायालोभास्त एव अटवी अरस्य वन तस्या दावाच्चिर्नि-  
 चय दावाग्निज्वालासमूहतुल्य । पुन कथभूत प्रबोधदिवसप्रारभ-  
 सूर्योदय प्रबोधो ज्ञान स एव दिवसो दिन तस्य प्रारभे उदये  
 सूर्योदयसमान । पुन कथभूत मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकु कुमरस  
 मुक्तिरेव स्त्री तस्या कुचावेव कुभौ तत्र कुकुमरस कार्मोरजम  
 द्रवलेपतुल्य । मुक्तिस्त्रीवद्वैकु कुमरस इति वा पाठः । पुन कथ-  
 भूत श्रेयस्तरो पल्लवप्रोन्लास श्रेय पल्याणमेव तरु वृक्षस्तस्य  
 पल्लवाना नूतन पत्राणा प्रोन्लाम उद्गम । इदृश पार्वप्रमो  
 क्रमयोश्चरणयोर्नखद्युतिभरो वो युष्मान् पातु रक्षतु । नखद्युति-  
 भरस्य रक्तवस्तृत्वात् । रक्ता एवोपमा । ओ भव्यप्राणिन् ! एव क्षात्वा  
 गनसि विद्येऽमातीय श्रीपार्वनाथस्य चरणकमलौ एव सेव्यौ ।  
 मेवमानाना यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादात् उच्चरोत्तरमागलिक्य-  
 माला विस्तरतु ॥ १ ॥

अर्थ—पार्वप्रभु के चरणों की नख की कात्ति का समूह तुम्हारी रक्षा करे यह आचार्य का सबके लिये आशीर्वाद है। वह नख कात्ति समूह कैसा है उसका उत्प्रेक्षालकार रूप उपमा में वर्णन किया गया है —

भगवान के द्वारा किया गया जो तप [ उग्रतपस्या ] वही हुआ हाथी, उस हाथी के मस्तक में लगे हुये सि दूर का समूह ही है मानों कपाय रूपी घनी को भस्म करने के लिये दावानल ही है मानों, ज्ञान रूपी दिन का प्रारम्भ सूर्य का उदय ही है मानों (क्योंकि सूर्य उदय होते समय लाल होता है और भगवान के नख भी लाल हैं) मुक्ति स्त्री के स्तन कलश की केशर ही है मानों कल्याण रूपी वृक्ष की वृ पत्र का हर्षोल्लास है मानों, इसप्रकार पार्व प्रभु का नख-कात्ति-समूह तुम्हारी तथा हम सब की रक्षा करे।

अथ कवि सज्जनपुरुषान् प्रति स्वविह्वलितमाह—

सन्त' सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचा विचारोद्यता'  
 घृतेऽम्म' कमलानि तत्परिमलं याता वितन्वति यत् ।  
 किंवाभ्यर्थनयानय यदि गुणोऽस्त्यासां ततस्ते स्वयं  
 कर्तारः प्रयत्न न चेदथ यशःप्रत्यर्थिना तेन किं ॥२॥

व्याख्या—सन्त सज्जना मम प्रसन्नमनसः सन्तु ममोपरि प्रसन्नचित्ता भवतु किंनिश्चिष्टा सत वाचा विचारोद्यता । वाचा कविवाणीना विचारे सदसद्विचारे चक्षता सावधाना । इय कविवाणी समीचीना इय असमीचीना इति विचारज्ञा । यत्

यस्मात् कारणात् अम्भ पानीय कमलानि सूते उत्पादयति पर  
 तत्परिमल तेषां कमलानां आमोद वाता वायवो वित-वति विस्तार-  
 यति । तथाह एन प्रथ रथयिष्यामि पर ॥ यस्य विस्तारणे सञ्जना  
 करिष्यति यत् 'पद्मानि बोधयत्यर्क' ॥ । काव्यानि कुरुते कवि  
 तत्सौरभ नभस्वत् स-तस्त वति तद्गुणान् । वा अथवा अनया  
 मम मे अभ्यर्चनया सताममे प्रार्थनया किं अपि तु न किमपि कुत  
 यदि चेत् आसा मम वाणीना मध्ये गुणोऽस्ति ततस्तदा ते स-त स्वय  
 मेव प्रयत्न विस्तार कृत्तार करिष्यति यदि अस्मिन्शास्त्रे करिष्यद्  
 गुणोभयिष्यति तदा स त स्वयमेव ममाभ्यर्चनया विनैव विस्तार  
 करिष्यति । अथ यदि चेत् आसा मम वाणीना मध्ये गुणो नास्ति  
 तदा तेन प्रयत्नेन विस्तारणेन किं अपि तु न किमपि । कथंभूतेन तेन  
 प्रयत्नेन विस्तारणेन यश प्रत्यर्पिना यशस प्रत्यर्पि शशुभूत यत्तत्  
 यश प्रत्यर्पि तेन यश प्रत्यर्पिना यशसो विनाशकम निगुणाय  
 विस्तारणेन अथवा एव भवतीत्यथ ॥ ९ ॥

अर्थ,—निमल चित्त वाले सत्पुरुष मेरे वचनों के विचार में  
 उद्यमवान् हों । जैसे जल कमलों को उत्पन्न करता है परन्तु पवन  
 ( वायु ) उनकी सुगंध को फैलाता है । कमलों की प्रार्थना से पवन  
 सुगंध को नहीं विस्तृत करता परन्तु अपने स्वभाव से ही विस्तृत  
 करता है उसी प्रकार यदि मेरे वचनों में गुण ( प्राज्ञता का अंश )  
 है तो प्रार्थना से क्या लाभ और यदि गुण विद्यमान नहीं हैं तो भी  
 प्रार्थना कर क्या साध्य है ?

मात्राय—इस श्लोक में आचार्य ने अपनी लघुता एवं बड़े  
 आचार्यों की महत्ता प्रगट की है कि-सत्पुरुष स्वभाव से ही गुण-

माही होते हैं दूसरों के दोषों को ग्रहण कभी नहीं करते। आचार्य कहते हैं कि हम इस कान्य प्रय का निर्माण कर रहे हैं सो पूर्व आचार्यों की परम्परा से कर रहे हैं, अपनी बुद्धि से नहीं। इस हेतु ( कारण ) से हम कर्त्ता नहीं हैं। केवल भक्ति के अनुराग से प्रत्य रचना की है। अतः प्रमाद यश से कहीं पर भूल चूक हो तो सज्जन पुरुष विचार कर शुद्ध कर लें। क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा होता है जो गुण ग्रहण ही करते हैं दोषों पर दृष्टिपात नहीं करते तो ऐसी दशा में उनसे प्रार्थना करने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि यदि हमारे वचनों में गुण होंगे तो वे सज्जन पुरुष विस्तार ही करेंगे और यदि दोष होंगे तो दोषों को दूर कर विस्तार करेंगे। जैसे जल कमलों को धापत्र करता है परन्तु पवन गन्ध को फैलाता है क्योंकि पवन का स्वभाव यही है। इसी प्रकार प्रयकर्त्ता को यदि यश नहीं तो यश-विस्तार की प्रार्थना करने से क्या प्रयोजन है ? यदि यश है तो भी प्रार्थना करने से क्या प्रयोजन ? अतः सज्जन पुरुष मुझे बालक समझ कर अनुग्रह बुद्धि कर शुद्ध करेंगे ही। इस प्रकार प्रयकार ने अपनी लघुता प्रदर्शित की है।

अथ विहितसकलसुरासुरसेवस्य देवाधिदेवस्य श्रीवीतराग-  
स्यागमानुसारेण मन्त्रानां हितहेतवे धर्मोपदेशमाह—

इन्द्रवज्राद्यन्ध

त्रिवर्गससाधनमन्तरेण, पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।

तत्रापि धर्मं प्रवरं वदति, न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ ॥३॥



व्याख्या—भो भव्या त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण नरस्य आयुः पशोरिव विफलं ज्ञेयम् । धर्मार्थकाममोक्षारचत्वारः पुरुषार्थारचतुर्वर्गास्तेषां मध्ये साम्प्रतः अस्मिन् भरतक्षेत्रे मोक्षं साधयितुं न शक्यम् । अतः कारणात् शेषास्त्रिवर्गाः धर्मार्थकामरूपास्तेषां त्रिवर्गाणां संसाधनं वृत्तान्तमन्तरेण विना नरस्य मनुष्यस्य आयुः क्षीयितुं पशोरिव विफलं निष्फलं दृष्टव्यम् । येन नरेण धर्मार्थकामानां साधनमुपासनं न क्रियते तस्य जीवितं पशोरिव छागादेरिव घृष्टं निष्फलम् । तथा चोक्तम् ।

धर्मार्थकाममोक्षानां, यस्यैकोऽपि न विद्यते ।

अनागलस्तनस्येन निष्फलं तस्य जीवितम् ॥१॥

इति । ते त्रयोपि किं सदृशा वा किञ्चिद्वर्तमानित्याह । तत्रापि त्रिवर्गोऽपि धर्मं प्रवरं वदति श्रेष्ठं कथयति । श्रुतं यत् यस्मात् कारणात् तं धर्मं विना धर्मार्थकामौ न भवतः । येन पुरुषेण पूर्वजन्मनि धर्मं कृतो भवति तस्यैवाधर्मार्थकामौ भवतः नान्यस्य । यदुक्तम्—

किं जपिणेन बहुणा ज ज दीमद् समञ्जः नियलोऽहम् ।

इदियमणोभिरामं त त धम्मफलं सुखम् ॥ २ ॥

अतः कारणात् त्रिवर्गो धर्मः एव श्रेष्ठः । भो मर्त्यप्राणिन् । एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय श्रीसवत्स्रप्रणीतो धर्मः एव आचरणीयः । धर्ममाचरतां सतां यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादात् । उत्तरोत्तरं मागलिक्यमाला आनिर्मयतु विस्तरतु ॥ ३ ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों के साधन बिना मनुष्य की आयु पशु-समान निष्फल है और इन तीनों पुरुषार्थों में धर्म पुरुषार्थ सबसे मुख्य है। क्योंकि धर्म के बिना अर्थ-पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती।

अथ नरभयस्य दुर्लभत्वमाह—

यः प्राप्य दुष्प्राप्यमिदं नरत्वं, धर्मं न यत्नेन करोति मूढः ।  
क्लेशप्रबन्धेन सलज्जमब्धौ, चिन्तामणिं पातयति प्रमादात् ॥४॥

व्याख्या—यो मूढो मूर्ख इदं दुष्प्राप्य नरत्वं प्राप्य यत्नेन श्रमेन धर्मं न करोति स क्लेशप्रबन्धेन लज्ज चिन्तामणिं रत्न प्रमादात् आलस्यात् अधी समुद्रे पातयति । यो मूर्ख पुमान् दुत्वेन महत्कष्टेन प्राप्य ।

चोत्थय' पासय' धरणं' जूषा' रयणाणि' सुमणि' चक्षुषा' ।

कुम्भ' जुग' परमाणु दस दिङ्ग ता मणुयलमे' ॥

आ० पृ० ३६७ ॥

इत्यादि दशमिदंशतैः ।

इदं दुर्लभं नरत्वं मनुष्यजन्म प्राप्य लब्ध्वा यत्नेन साधनतया श्रीवीतरागप्रणीत धर्मं न करोति च्येष्टते । स पुमान् क्लेशप्रबन्धेन महता कष्टेन अतिप्रयासेन लज्ज प्रत्यक्षप्राप्त चिन्तामणिरत्न प्रमादाद् अधी समुद्रे पातयति । अत्र ब्राह्मण रत्नद्वीपदेव्या दत्त चिन्तामणिरत्न समुद्रे पातनसम्बन्धो वाच्यः । ओ मन्व्य-प्राणिन् । एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय यत्नेन धर्म एव कार्यः ।

धर्मं च कुर्यता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाङ्ग  
लिक्यमाला विस्तरतु ॥ ४ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी कठिन्ता से प्राप्त होने वाले इस मनुष्य  
पर्याय को पाकर भी सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत धर्म को यत्न से  
( सावधान होकर ) सेवन नहीं करता वह अज्ञानी कष्टों से प्राप्त  
किये हुए चित्तामणि रत्न को प्रमाद से समुद्र में फेंकता है ।

भाषार्थ—मनुष्य भव की प्राप्ति विशेष पुण्योदय से होती  
है । अद्वापूर्वक वीतराग देव, जिनागम एव निर्ग्रन्थ गुरुओं की  
भक्ति करना ही इस मनुष्य जन्म की सफलता प्राप्त करना है । जो  
ऐसा न करके सौसारिक विषय वासनाओं में लिप्त होकर अहर्निश  
( रातदिन ) व्यतीत करते हैं वे अज्ञानी हैं, वे मानों घटे परिधम  
से प्राप्त चित्तामणि रत्नको पाकर समुद्र में फेंकते हैं । इसलिये  
धर्म साधन कर मनुष्य जन्म सकल करना योग्य है । आगे इसी  
कथन को दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हैं—

अथ मनुष्यभरस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाह—

मन्दाकावाह्व

स्वर्णस्थाले सिपति स रजः पादशौच विधत्ते,  
पीपूषेण प्रवरकरिण वाहयत्येन्धमारम् ॥  
चिन्तारत्नमिषिरति कराढायसोद्वायनार्थम्,  
यो दुष्प्राप्य गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः ॥५॥

व्याख्या—य पुमान् प्रमत्त सन् प्रमादस्य वश गत सन् वश पतित सन् विषयरूपायनिद्राविकृष्टारूपप्रमादवशगत सन् दुष्प्राप चतुरशीतिलश्चजीवयोनिषु भ्रमता जीवेन दुस्तेन महता कष्टेन प्राप्य यत् मर्त्यजन्म मनुष्यभव तत् मुघा यथा श्रीजिनधर्म विना निष्कल गमयति । स पुमान् स्वर्णस्थाले रजो धूलि कचरादि क्षिपति स्वर्णस्थालतुल्य मर्त्यजन्म रज सदृशा प्रमादा । पुन स पुमान् पीयूषेण अमृतेन कृत्वा पादशौच चरणप्रक्षालन विधौ करोति । पीयूषस्य त्रिदुमाश्रपानेनाऽनरावरत्व स्यात् तत् पादप्रक्षालनार्थं यथा गमयतीत्युक्त । पुन स पुमान् प्रवरकरिण प्रवानहस्तिन ऐधभार काष्ठसमूह वाहयति यस्मिन् गने द्वारे बद्धे सति शोभा भवति तेन इन्धनानयनमयुक्त । पुन स पुमान् वायसोऽङ्गायनाय काकस्य उड्ढायननिमित्त चित्तामणिरत्न कराद् हस्ताद् विकिरति विक्षिपति यथा मनोवाङ्मिताय्यशायकस्य चित्तामणिरत्नस्य काकस्य उड्ढायनाय विक्षेपणमयुक्त तथा धर्मसाधकेन मर्त्यजन्मना प्रमादसेवनमयुक्त । भो भव्यप्राणिन् । एष ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय प्रमाद त्यक्त्वा धर्मेण कृत्वा मनुष्यजन्म सफल कार्यं धर्ममाचरता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ ५ ॥

अर्थ—जो प्रमादी पुरुष दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर व्यर्थ ही विषय कषाय सेवन, विकृष्टा भवण, जूआ खेलना आदि में गमाता है वह मानों सोने के थाल में धूल भरता है अर्थात् सुवर्ण थाल में दूध दही घी मिश्री आदि सुदर खादिष्ट भोजन करना चाहिये या किन्तु मूर्ख उस स्वर्ण थाल में धूल भरने का कार्य

करता है। अथवा वह अमृत को पाकर उसे पैर घोने के काम में लाता है, अथवा महान् श्रेष्ठ हाथी को पाकर उससे ईर्ष्यन होने का काम करता है, या वह मूल आदमी की-को उड़ाने के लिये चिन्तामणि रत्न को फेंकता है।

ये तु असारानां विषयाणां कृते धर्मम् स्वर्गात् ते मूढा एवेत्याह—

शाद्वलविक्रीदितकन्द

ते घत्तूरतरु वपन्ति भ्रुवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुम  
चिन्तारत्नमपास्य काचशकल स्वीकुर्वते ते जडाः ।

विक्रीय द्विरद गिरीन्द्रसदृश क्रीणन्ति ते रासम  
ये लब्ध परिहृत्य धर्ममधमा धारन्ति भोगाशया ॥६॥

व्याख्या—ये अधमा मूर्खा पुरुषा लब्ध प्राप्त धर्म  
परित्याग्य स्वत्वा भोगाशया विषयवाञ्छया धारित विषयार्थ प्रवर्त-  
ते ते नरा भवने स्वगृहे प्रोद्गतमुत्पन्न कल्पवृक्ष प्रोन्मूल्य वरदाय  
घत्तूरवृक्ष वपन्ति आरोपयन्ति पुनस्ते जडा मूर्खा चिन्तामणिरत्न-  
मपास्य स्वत्वा दूरीकृत्य काचशकल काचरत्नसदृश स्वीकुर्वते गृह्णन्ति  
पुनस्ते जडा गिरीन्द्रसदृश पर्वतप्रायकाय वृक्ष द्विरद हरितन विक्रीय  
रासम गदम क्रीणन्ति मूल्येन गृह्णन्ति । अत्र कल्पवृक्षसदृशो धर्म  
घत्तूरसदृश भोगा एव सर्वत्रोपनय । भो मध्यप्राणिन् ! एव ज्ञात्वा  
मनसि विवेकमानोय कल्पवृक्षचिन्तामणिसदृश श्रीधर्म एवाराध्य  
धर्ममाराधयता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत् पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाग-  
न्तिक्यमाला विश्वरत्नु ॥ ६ ॥

अर्थ—जो नीच पुरुष पवित्र एवं कल्याणकारी वीतराग धर्म को पाकर भोगों की आशा से उसे छोड़ कर अथ मसार के कामों में दीढ़ धूप लगाते हैं अर्थात् विषय भोगों में मग्न हो जाते हैं वे जड़बुद्धि महल में लगे हुए कल्पवृक्ष को उखाड़ कर धनूरे के पेड़ को धोते हैं, चित्तमणि रत्न को दूर फेंक कर बाथ का टुकड़ा स्वीकार करते हैं, पर्वत सदृश ऊँचे हाथी को घेच कर गधे को खरीदते हैं ।

अथ नरमहाय धम्मसामप्रथाञ्च दुर्लभममाह—

शिलरिणी छन्द

अपारे समारे कथमपि समामाद्य नृभव  
न धर्मं य कुर्याद्विषयसुखतृष्णातरलितः ।

मृदन् पारानारे प्रवरमपहाय प्रवहण  
स मूर्खो मूर्खाणामुपलमुपलब्धु प्रयतते ॥ ७ ॥

व्याख्या—य पुमान् विषयसुखतृष्णातरलितः सन् विषयाणां कामभोगानां शब्दरूपरसस्पर्शगन्धानां सुखस्य तृष्णा वाञ्छा तथा तरलितो व्याहितो व्याकुलीकृतः सन् अपारे अनते ससारे कथमपि महता कष्टेन नृभव मनुष्येन ॥ समासाद्य प्राप्य धम्मं न कुर्यात् न करोति स पुमान् पारानारे समुद्रे मृदन् निमज्जन् प्रवरमुत्तम प्रवहणं पोत अपहाय त्यक्त्वा तरणार्थमुपलयायाण उपलब्धु गृहीतुं प्रयतते यत्नं करोति उद्यमं करोति कथंभूतः स मूर्खाणां मुख्य मूर्खेषु वृद्धमूर्खः । अत्र ससारसमुद्रं धम्मं प्रवहणं विषयापापानामदृशा इत्युपनयः । भो भव्यप्राणिन् । इति क्षात्वा मनसि

विवेकमानीय ससारसमुद्रतारक भीषर्म् एवाराध्य आराधयतां च  
सता यत्पुण्यमुत्पन्ते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमाङ्गलिक्यमाला  
विस्तरन्तु ॥ ७ ॥

अर्थ—इस अपार ससार में कठिनता से प्राप्त रिये गये  
मनुष्य भव को पाकर जो व्यक्ति इन्द्रिय विषया के सुख की लूणा  
में आसक्त-सना हुआ मयल भीतराग प्रणीत जिनधर्म को पालन  
नहीं करता वह मूर्खों में मुख्य कहा जाता है। वह समुद्र में डूबते  
हुये महान् जहाज को छोड़ कर पत्थर को शिला को पकड़ने का  
प्रयत्न करता है।

अस्मिन् शास्त्रे एता उपदेशद्वाराणि कथयिष्य ते इत्युपदेश-  
द्वारेण वृत्तमाह—

शादूँलविक्रीडितद्वय

भक्ति तीर्थकरे गुरौ जिनमते सधे च हिमानृत-  
स्तेयाब्रह्मपरिग्रहानुपरम क्रोधादरीणा जय ।  
सौजन्य गुणिमगमिन्द्रिपदम दान तपोभावनां  
वैराग्य च कुरुष्व निर्वृतिपदे यद्यस्ति गन्तु मनः ॥८॥

व्याख्या—ओ भव्यप्राणिन् । यदि तब निर्वृतिपदे मोक्ष  
स्थाने गन्तु मनोऽस्ति तदा त्व तीर्थकरे श्रीशेतरागे भक्ति पूजा  
कुरुष्व । पुनगुरौ धर्मोपदेशके भक्ति कुरु । पुनर्जिनमते जिनशासने  
भक्ति कुरु । पुनश्चतुर्निधसधे साधुसाध्वीरूप सधे भक्ति कुरु । पुन  
हिसाऽनृतस्तेयाऽनद्वपरिमहाद्युपरम कुरु । हिसा जीववध प्राणाति-

पात । अनृत असत्य मृपावाद । स्तेय चौर्व्यं अदत्तादान अदत्तपर  
 वस्तुग्रहण । अग्रह्य मैथुन स्त्रीसेवा । परिग्रहोद्यनधान्यादि दशविध ।  
 एभ्य उपरम निवर्तन कुरुष्व । पुन क्रोधाद्यरीणा जय क्रोधमानमा-  
 यालोभरूपशत्रूणा जय कुरुष्व । पुन सौजन्य सुजनभाव सर्वजीवेपु  
 मैत्रीभाव कुरुष्व । पुन गुणिसङ्ग गुणिना गुणवता मनुष्याणा सङ्ग  
 मङ्गति कुरुष्व । पुन इन्द्रियदम पचेन्द्रियाणा दमन कुरुष्व । पुन  
 दान सुपात्रादिपचप्रकार कुरुष्व । पुनस्तपोऽनशनमूनोदर्यादि याह्य  
 अभ्यन्तर च द्वादशविध कुरुष्व । पुनर्भावना शुभचित्तभाव कुरुष्व ।  
 पुनर्वैराग्य ससाराद् भोगादिभ्यश्च विरक्तभाव कुरुष्व । एतानि  
 मोक्षपददायकानि ज्ञात्वा सम्यक्प्रकारेणाराधनीयानि । आराधयता  
 सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत् पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिक्यमाला  
 विस्तरतु ॥ ८ ॥

अथ—हे भव्य जीव । ससार के दुःखों से छूट कर मोक्षपद  
 प्राप्त करने के लिये यदि तेरे मन में इच्छा है तो आचार्यों का उप-  
 देश धारण कर । वह यह है—४६ गुण सहित, १८ दोष रहित तीर्थो-  
 फर देव की भक्ति कर, २४ प्रकार परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरुओं की  
 भक्ति कर, दयामई जिनधर्म और चार प्रकार के सप ( मुनि,  
 आर्यिका, ग्रावक, भाविका ) की भक्ति कर, हिंसा, मूठ, चोरी,  
 कुशील, परिग्रह इन पांच पापों का त्याग कर, क्रोधादि शत्रुओं को  
 जीत, तथा सब के साथ सबजनता का व्यवहार, गुणी पुरुषों की  
 सगति, पांच इंद्रियों को वश में कर और चार प्रकार का दान,  
 बारह प्रकार का तप एव ससार शरीर भोगों से विरक्तता धारण



कर । ऐसा करने से तेरा ससार परिभ्रमण दूर होगा और आत्मीक अनंत सुख को भोगेगा ।

अथ ययोद्देशस्तथैव निर्देश इति वचनादनुक्रमेण द्वाराणि विवृणोति । सत्र प्रथम चतुर्भिर्वृत्ते श्रीतीर्णकरमक्षिपूजाद्वारमाह—

शादूँलविक्रीडितछन्द

पापं लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदं  
पुण्यं सचिनुते धियं वितनुते पुष्पाति नीरोगता ।  
सौभाग्यं विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः  
स्वर्गं यच्छति निर्धृतिं च रचयत्यर्चाऽर्हतां निर्मिता ॥९॥

व्याख्या—भो भव्य । अर्हतां विनाश पूजा निर्मिता कृता सती पापं लुम्पति दूरीकरोति । पुन दुर्गतिं नरकादि दुष्टगतिं दलयति रण्डयति निवारयति । पुन आपदं कष्ट व्यापादयति विनाशयति । पुन पुण्यं धर्मं सचिनुते वृद्धिं प्रापयति । पुन धियं लक्ष्मीं वितनुते विस्तारयति । पुन नीरोगता शरीरे आरोग्यपुष्पाति पोषयति । पुन सौभाग्यं सर्वजनेषु स्थापनीयतां विदधाति करोति । पुन प्रीतिं पल्लवयति वरपादयति । पुन यशः प्रसूते यशो विस्तारयति । पुन स्वर्गं त्रिदिव देवपदवीं यच्छति ददाति । पुन निवृत्तिं मुक्तिं रचयति ददाति । भो भव्यप्राणिन् । एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानोय सम्यक् कर्तव्यनिर्मलविधायिनी इहलोके परलोके च सर्वसौख्यदायिनी श्री-जिनपूजा कार्या । तत् कुर्वता सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यमसादादु-चरोच्चरमागलिक्य माला निस्तर तु ॥ ६ ॥

अर्थ—जो भक्त्यात्मा श्रीअरहन्त बीतराग प्रभू की भाव भक्ति से ( दृढ श्रद्धा पूर्वक ) पूजन करते हैं उनके जन्म जन्म के संचित पापों का लोप ( नाश ) हो जाता है, दुर्गति का नाश होता है, आपत्तिया दूर हो जाती हैं, पुण्य का भण्डार भर जाता है, इन्द्रादि पद की लक्ष्मी प्राप्त होती है, शरीर निरोग रहता है, सौभाग्य बढ़ता है, सबसे प्रीति बढ़ती है अर्थात् उसे सब प्यार करते हैं-सब चाहते हैं, ससार में उनकी कीर्ति फैलती है स्वर्गों का निवास मिलता है और तो क्या ? भक्तिपद की भी प्राप्ति होती है ।

पुन श्रीजिनपूजाफलमाह—

शादूँलविकीर्तितछन्द

स्वर्गस्तस्य गृहागण सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः शुभा  
सौभाग्यादिगुणावलिर्विलसति स्वैर वपुर्वैरमनि ।  
समारः सुतर शिव करतलक्रोडे लुठत्यञ्जसा,  
यः श्रद्धाभरभाजन जिनपतेः पूजा निघचे जनः ॥१०॥

व्याख्या—यो जन श्रद्धाभरभाजन सन् श्रद्धा रुचिस्तस्या  
भर प्रचुरता तस्या भाजन स्थान भाजनशब्दस्याऽजहर्लिंगत्वात्  
नपु सकत्व शुभभावनायुक्त सन् जिनपते श्रीबीतरागदेवस्य पूजा  
विघ्नते करोति तस्य जनस्य स्वर्गो देवलोको गृहागण गृहस्यागणवन्नि-  
कटो भवति । पुन शुभा मनोरमा साम्राज्यलक्ष्मी राज्यश्रद्धिस्तस्य  
सहचरी साङ्गवर्तिनी भवति । पुनर्वपुर्वैरमनि वपुरेव शरीरमेव घेरम  
गृह तस्मिन् सौभाग्यवैर्योदार्यचातुर्य्यादिगुणाना आवलि अलिखि

स्वैर स्पेच्छया विलसति आगत्य विलासं व्रीडां करोति तिष्ठतीत्यर्थं  
 पुनः ससारं सुखेन तीर्यन्ते इति सुतरं सुखेन तरीतुं शक्यो भवति ।  
 पुनः शिव मोक्षं अञ्जसा शीघ्रं तस्य करतलक्रीडे हस्ततलमध्ये  
 लुठति हस्तगोचरो भवतीत्यर्थं । अतोऽर्हता पूजा कार्या । तत्राह तस्य  
 तुर्विधा नामस्थापनाद्रूपमावमेदात् ।

णामजिणा जिणणामा ठणणजिणा तद्द य ताह पट्टिमाभी ।  
 दब्बजिणा निण्णजीवा भावजिणा समयसरणत्था ॥

इति भो भव्यपाणिन् । एव शास्त्रा मनसि विवेकमानीय  
 अर्हता पूजा कार्या । तत्कुवशा च सत्ता तत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यमसा-  
 दादुत्तरोत्तरमागलिक्यमालिका विस्तरं तु ॥ १० ॥

अर्थ—भट्टा का भाजन जो पुरुष भी त्रिनेत्रदेव की पूजा  
 करता है, स्वर्ग उमरु घर के आगन के समान है, चक्रवर्ती इन्द्र  
 घरयेन्द्र की लक्ष्मी उसकी दासी हो जाती है, सौभाग्य आदि गुण  
 उसके शरीर रूपी घर में श्रद्धा व्रीडा ( विलास ) करते हैं, विफट  
 ससार उसके द्वारा आसानी से पार करने योग्य हो जाता है और  
 तो क्या ? निश्चय से उसके हाथों के मध्य मोक्ष का सुख छोटता  
 है अर्थात् शीघ्र ही निर्मल मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है ।

विशेष—जैसे किसी बतन ( पात्र ) में कोई वस्तु रखी जाती  
 है उसी प्रकार जो पुरुष अपने हृदय में धीतराग देव की श्रद्धा भर  
 लेता है तो उसको तत्काल सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है । नदीश्वर  
 द्वीप की पूजन में उल्लेख है कि उन अट्टनिम चैत्यालयस्य धीतराग

रतिमाओं के दर्शन, पूजन से सम्यग्दर्शन का घारी देव हो जाता है मनुष्यों का तो वहा आवागमन ही नहीं है। मनुष्यों तिर्यचों के भी धीतरागदेव के दर्शन पूजन से सम्यक्त्व का आविर्भाव (उत्पत्ति) हो जाता है ऐसा शास्त्रों में (सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि में) कथन है। कहा है —

जिने भक्तिर्जिने भक्ति, जिने भक्तिर्दिने दिने ।

सम्यक्त्वेव ससार वारण मोक्षकारणम् ॥

अर्थात् जिनेन्द्र धीतराग देवकी भक्ति सम्यक्त्व की उत्पत्ति में प्रधान कारण है और सम्यक्त्व ससार का छेदक तथा मुक्तिका कारण है इससे अन्य सासारिक सपत्ति तो सहज ही मिल जाती है।

पूनाया प्रभावमाह—

शिशिरिणीछन्द

कदाचिन्नातङ्क कुपित इव पश्यत्यभिमुखम्

विदूरे दारिद्र्य चकितमिव नश्यत्यनुदिनम् ।

विरक्ता कान्तेव त्यजति कुगतिं सङ्गमुदयो

न मुञ्चत्यभ्यर्णं सुहृदि च जिनाचार्यं रचयत ॥ ११॥

व्याख्या—जिनाचार्य श्रीधीतरागस्य पूजा रचयत कुर्वत पुरुषस्य आत्मको भय कदाचित् अभिमुख सम्मुख न पश्यति न विलोकयति क इव कुपित इव यथा करिचत् कुपितो रूष्टो भवति । स यथा तस्य सम्मुख न पश्यति । तथेत्यर्थः । पुनः दारिद्र्य दारिद्र्य अनुदिन निरन्तर तस्य दूरे नश्यति दूरे याति । किमिव चकितमिव भयभीतमिव । पुनर्नरकादिकुगतिस्तस्य सङ्ग समीप त्यजति मुञ्चति

का इव विरक्ता कुपिता रुष्टा काता इव स्त्री इव यथा विरक्ता स्त्री भर्तुं सद्गन्त्यति तथेत्यर्थः । पुनः उदय अभ्युदय प्रतापैश्वर्या दिव्यद्विषयस्थायि समीप न मुच्यति न त्यजति क इव सुहृदिव मित्र इव । अतोऽर्हता पूजा कार्या । उक्तं च—

भो भव्यप्राणिन् ! एष ज्ञात्वा मनसि विनैकमानीय श्रीनिन-  
पूजा कतव्या । कुर्वता च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादु-  
त्तरोत्तरमागलिक्यमाला बिस्तरन्तु ॥ ११ ॥

अथ—जो पुरुष श्री वीतराग जिनराज प्रभू की पूजा करते हैं उनके आसक्त अर्थात् रोग कोपायमान हुये के समान कभी भी सम्मुख नहीं आता है अर्थात् वे कभी भी अपने सामने रोग को आया हुआ नहीं देखते हैं । वीतराग प्रभू के पूजक पुरुष सर्वेश्वर शरीर नीरोग रहते हैं दरिद्रता चकित हुये पुरुष की तरह दिन प्रति दिन दूर ही से नाश को प्राप्त हो जाती है अर्थात् उनके दरिद्रता कभी नहीं आती सदैव लक्ष्मी से भरपूर भण्डार रहते हैं, दुर्गति-अपने पति से विरक्त हुई स्त्री की तरह सग छोड़ कर चली जाती है अर्थात् वीतराग के पूजक—दुर्गति नरक तिर्यक कभी भी प्राप्त नहीं करते किन्तु मरकर सुगति में पैदा होते हैं जहाँ उन्हें आत्मफल्यार्थ के अनेक साधन मिलते हैं । तथा उनके महार भाग्यरूपी सूर्य का उदय होता है जो उनका कभी भी मित्र के समान साथ नहीं छोड़ता किन्तु सदा साथ रहता है जिससे वे भव भव में सुखी रहते हैं । ऐसा त्रिनेत्र पूजन का अद्भुत फल जान कर प्रतिदिन जिने की पूजन करना चाहिये ।

पुनः श्रीजिनपूजाया माहात्म्यमाह—

शादूर्लङ्घिकीदिवल्लन्द

य. पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनै सोऽर्च्यते  
यस्तं वन्दत एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निश वधते ।  
यस्त स्तौति परत्र घृत्रदमनस्तोमेन स स्तूयते  
यस्तध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनं स ध्यायते योगिमि ॥१२॥

व्याख्या—य पुरुष पुष्पै कृत्वा जिन श्रीवीतराग अर्चति  
पूजयति स पुरुष स्मितसुरस्त्रीलोचनै अर्च्यते पूज्यते । स्मितानि  
विकसितानि यानि सुरस्त्रीणा देवाङ्गनाना लोचनानि नेत्राणि तै  
देवलोके देवत्वेनोत्पन्न सदेवागनाभि विकसितनेत्रै अर्च्यते पूज्यते  
सराग अवलोक्यते इत्यर्थः । पुनर्यं पुमान् एकश एकवार त श्रीजिन-  
देव वन्दते स अहर्निश दिवारात्रौ त्रिजगता त्रिभुवनेन वधते । यो  
जिन वन्दते स त्रिजगद्भ्यो भवतीत्यर्थः । पुनर्यं पुमान् त श्रीजिन  
स्तौति स्तोत्रै वर्ययति स पुमान् परत्र परलोक घृत्रदमनस्तोमेन  
घृत्रदमनाना इन्द्राणा स्तोमेन समूहेन स्तूयते गुणस्तुत्या कृत्वा धर्यते ।  
पुन य त श्रीजिन ध्यायति विष्टस्य पदस्थरूपस्थरूपासीतभेदेहं दये  
ध्यानगोचर करोति स पुमान् योगिमि योगीश्वरै महामुक्तिभिर्ध्या-  
यते ध्यानगोचर कियते । कथभूतं स क्लृप्तकर्मनिधन क्लृप्त रचित  
कृत अष्टकर्मणा निधन विनाशो येन स क्लृप्तकर्मनिधन सिद्धाव-  
स्था प्राप्त इत्यर्थः । पूजाविधिस्तुति । अनेन विधिना श्रीजिनपूजा  
कार्या । अत्र श्रीमिदूरप्रकराख्योपदेशशास्त्रे श्रीजिनपूजाधिकार याव-  
दय सवधो व्याख्यातोऽस्ति ततोऽग्रे य सवधोभविष्यति स वर्त-  
मानयोगेन शास्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मन्त्र्य पुरुष पुण्यों से जिने द्रदेव की पूजा करता है वह मन्द हास्ययुक्त देवाङ्गनाओंके कमलों द्वारा पूजा जाता है, जो पुरुष एकवार जिने द्रदेव की वन्दना करता है वह तीन लोक द्वारा सदा वन्दनीय होता है, और जो जिने द्र देवकी स्तुति करता है उसकी परभव में इन्द्रों द्वारा स्तुति की जाती है। जो जिने द्र देवका ध्यान करता है वह आठों कर्मों का नाश कर देता है और तब सिद्ध परमेष्ठी हो जानेके कारण योगियों द्वारा ध्यान करने योग्य हो जाता है।

इति पूजाया प्रकरणं समाप्तम् ।

अथ चतुर्विधं तु गुंभक्तिद्वारमाह—

वशस्य च

अथ मुक्ते पथि यः प्रवर्तते

प्रवर्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः ।

स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः

स्वयं तरेस्तारयितु क्षमं परम् ॥१३॥

व्याख्या—आत्महितवाद्भ्यक्तेन पुरुषेण स एव गुरुः सेव्यः स कः यः अवयमुक्ते पापवर्जिते सत्ये पथि धर्ममार्गे स्वयं प्रचलते च पुनः अन्यजनं अन्यलोकं शुद्धमार्गे प्रवर्तयति । यो गुरुः निःस्पृहः परिग्रहादिवाच्छास्त्रहितं सन् पुनर्यं स्वयं ससारसमुद्रं तरन् सन् परं अन्यं तारयितु क्षमं समर्थः । गृणाति तरेणमिति गुरुः । तरेणोपदेशकं शुद्धप्ररूपकं इत्यर्थः ।

दसण भट्टो भट्टो दसण भट्टस्स एत्थि निग्गण ।

सिज्झति चरण रहिआ दसण रहिआ न सिज्झति ॥

भो भव्यप्राणिन् । एव ज्ञात्वा मनसि विवेकमानीय शुद्धप्ररूपको जिनाज्ञाराधको गुरु सेव्य । तत्सेवमानाना यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागच्छिष्यभाला विस्तरन्तु ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पापरहित मुक्ति के मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं तथा धाढ्या रहित होकर अथ भव्य जीरों को मोक्षमार्ग में लगाते हैं । अपना हित चाहने वाले व्यक्ति द्वारा ऐसे ही गुरु सेवन करने योग्य हैं । ऐसे ही निर्प्रभ्य गुरु ससार समुद्र से आप तिरते हैं और दूसरों को भी ससार समुद्र से पार करने में समर्थ होते हैं ।

भाषार्थ—परिग्रह, आरभ रहित दिगम्बर जैन साधु ही सेवा एव भद्धा के योग्य हैं । अन्य मेपी कुलिंगी सेवन करने योग्य नहीं, वे ससार में पत्थर की नौका के समान रख डूबने वाले और दूसरों को डुबाने वाले हैं ।

अथ पुनरपि गुरुसेवाया कवमाह—

मालिनीछन्द

निदलयति कुपोथ बोधयत्यागमार्थं

सुगतिकुगतिमार्गं पुण्यपापे व्यनक्ति ।

अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो

भवजलनिधिपोतस्त विना नास्ति कश्चित् ॥१४॥

व्याख्या—भो भव्यास्त गुरु विना अन्य कश्चित् भवजलनिधिपोत ग्रहण नास्ति भव एव ससार एव चलनिधि । समुद्रतत्र



प्रवहणससारसमुद्रतारणे प्रवहणसमानोगुरु स्त गुरु विनान्य करिच  
 प्राप्ति । यो गुरु बुद्धो घ कुत्सितज्ञान मिथ्यात्व विदलयति । पुनर्यो  
 गुरु रागमायं सिद्धांताना अर्थ बोधयति ज्ञापयति । पुनर्यो गुरु  
 पुण्यपापे पुण्य च पाप च पुण्यपापे ते धर्माधर्मो द्वे अपि व्यनक्ति  
 प्रकटयति । इदं पुण्य इदं पापमिति । कथं भूते पुण्यपापे सुगति कुगति  
 मार्गो सुगतिरच कुगतिरच सुगति कुगती तयो मार्गो पुण्य देवनरादि सु  
 गतिमार्गं पाप नरक तिप्यङ्कुरूप कुगतिमार्ग । पुनर्यो गुरु कृत्याकृत्यभेद  
 अनगमयति कर्तुं योग्य कृत्यमयोग्य अहरय कृत्य च अहरय च हरया  
 कृत्ये तयोर्भेदो विवेको विचारस्त ज्ञापयति । भो भव्यप्राणिन् ! इति  
 ज्ञात्वा मनसि विवेकमानोय ससारसमुद्रतारणाय प्रवहणसमान  
 , श्रीगुरो सेवा कार्या । गुरो सेवा कुवता च सत्ता यत्पुण्यमुत्पन्ते  
 तत्पुण्यप्रमाणादुत्तरोत्तरमागलिक्यमाला विस्तरतु ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मिथ्याज्ञान को दूर करते हैं, आगम सन् सिद्धांत  
 के अर्थ का भले प्रकार प्रतिपादन करते हैं ( ज्ञान कराते हैं ) सुगति  
 कुगति के कारण पुण्य पाप को प्रगट करते हैं, कर्तव्य अकर्तव्य के  
 भेद का ज्ञान कराते हैं वे ही गुरु ससार समुद्र से पार होने के लिये  
 जहाज के समान हैं अन्य कोई भी पार करने में समय नहीं है ऐसे  
 ही विगम्यर बीतराग साधु स्तुति और सेवा करने योग्य हैं अ य भेद  
 स्तुति सेवा करने योग्य नहीं हैं ।

पुनर्युस्तेनाया कलमाह—

शिखरिणीछन्द

पिता माता आता प्रियसहचरी धनुनिख  
 मुहृत्स्वामी माधत्करिमटरधारण परिकर ।

निमज्जन्तं जन्तु नरककुदरे रक्षितुमलं  
गुरोर्वर्माधर्मप्रकटनपरात्कोऽपि न परः ॥१५॥

व्याख्या—नरककुदरे नरकविवरमध्ये निमज्जन्तं ब्रुवन्तं पतन्तं सन्तं जन्तु जीव गुरोरन्य कोपिरक्षितुमलं न कश्चिदपिश्रातु समर्थो न । कथं पिता जनको रक्षितुं नाश माता जननी नाश भ्राता सहोदरो नाश प्रिया अत्यन्त वल्लभा सहचरी स्त्री रक्षितुं नाश । सूनुनिवह पुत्रगणोपि रक्षितुं नाश सुहृन्मित्रमपि नाश न समर्थ । स्वामी नायकोऽपि नाश किंभूत स्वामी मायत्करिभट्टरथाश्च मा-  
द्य तोमदोमत्ता करिणो गन्ता भटा सुभटा रथा स्यदना अश्वाश्च यस्य स एव यलघानपि स्वामी रक्षितुं नाश । पुनः परिकर प्रभूतसेवका-  
दिषर्गोपि नरके पतन्तं रक्षितुमलं न समर्थो न । किन्तु एको गुरुरेव नरके पतन्तं जीव रक्षितुं समर्थः गुरोः परः कोपि नरके पतन्तं जीव रक्षितुं समर्थो न । किंविशिष्टाद्गुरोः धर्माधर्मप्रकटनपराद् धर्मश्च अधर्मश्च धर्माधर्मोपुण्यपापे तयोः प्रकटने प्रकाशने परस्परतरो य-  
स तस्मात् । गुरुः धर्माधर्मो द्वावपि दर्शयति तत्तश्च यः प्राणी धर्म्ममगो करोति स नरके न पतति किन्तु सुगतिमागू भवति सो भव्यप्राणिन् । एव ह्यात्मा मनसि विवेकमानीय नरकपतनाद्रक्षणाय समर्थो गुरुरेव सेव्यः सेवमानात्वा च तत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादा-  
दुत्तरोत्तरमागलिभ्यमाला विस्तरन्तु ॥ १५ ॥

अर्थ—धर्म अधर्म को प्रकट करने में तत्पर ऐसे गुरु से अन्य कोई भी पिता माता, भाई, स्त्री पुत्रसमूह, मित्र स्वामी,

मदो-मत्त हाथी, योद्धा रथ, घोड़े आदि परिकर नरक के बिलो [ विषर ] में पड़ते हुए ( डूबते हुये ) प्राणी को रक्षा करने में समर्थ नहीं है ।

भावार्थ—नरक रूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणी को माता पिता आदि कोई भी निकालने में समर्थ नहीं है, एक श्रीगुरु ही समर्थ हैं ऐसा जानकर श्रीदिगम्बर जैनगुरु का ही आश्रय लेना फायकारी है ।

अथ गुरो आज्ञामाहात्म्यमाह—

शादूलबिक्रीहितछन्द

किं ध्यानेन भवत्यशेषविषय, -त्यागैस्तपोभिः कृत  
पूर्णं भावनयात्मिन्द्रियदमै पर्याप्तमाप्तागमैः ।

किंतवेक भवनाशन कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शानन  
सर्वे येन विना विनायकत्वत् स्वार्थाय नालगुणा ॥१६॥

व्याख्या—भो भव्या गुरो शासन गुरो भावा विना चेत् ध्यान कृत तर्हि तेन ध्यानेन किं अपितु न किमपि फल । पुन अशेष-विषयत्यागै भवतु पूर्णं ज्ञातसमस्तविषयाना परिहारेणापि न किमपि फल । पुन अशेषतपोभिः कृत गुरो आना विना । पष्टाष्टमदशमाद्युपयामादिषष्ठक्षपणमामक्षपणसिंहनिः कीहितादिभिस्तपोभिः कृत सम्पूर्णं ज्ञात भवा न किमपि । पुनर्भावनया शुभभावेनापि पूर्णं ज्ञात । पुन इन्द्रियदमै पचेन्द्रियाणा दमने कृत्वा अत्र पूर्णं ज्ञात । पुन आप्तागमै सूत्रसिद्धा तपठनैरपि पर्याप्त पूर्णं ज्ञात तर्हि किं किंतु गुरुप्रीत्या गरिष्ठवात्सल्येन अधिकादरेण एक गुरो शासन आज्ञा कुरु । गुरोरेषाणा गुहा पालय किंभूत गुरो शासनेन आप्तया

बिना सर्वेपि गुणाः पूज्योक्ता ध्यानादयः स्वार्थाय स्वल्पफलसाधनाय  
अलं न समर्था न किंतु निष्फला इत्यथ । किंवन्तु विनायबलवत्  
निर्नायकसैन्यवत् । यथा राजारहितसेना शत्रुं चेत् न समर्था भवति  
तथा गुरुमेवा बिना सर्वं वृथा भवति तथा गुरो आज्ञा बिना क्रिया-  
नुष्ठानादिकं सर्वं निष्फलं । एव ज्ञात्वा गुरो आज्ञासहितं सर्वं  
कर्तव्यं । सो भव्यप्राणिन् । एव ज्ञात्वा मनसि विन्यस्तमानोय गुरु-  
सेवा कर्तव्या कुर्वता च सता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरं  
मागलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ—ध्यान करने से क्या प्रयोजन ? समस्त इन्द्रिय विषयों  
के त्याग से क्या ? तप करने से क्या ? मैत्री प्रमोद आदि भावनाओं  
से क्या ? इन्द्रियों के वश में करने से क्या लाभ ? आप्त आगम से  
भी क्या साध्य ! कुछ भी नहीं, किन्तु गुरु की प्रीति से ससार का  
उच्छेद करने वाला मात्र एक गुरु का शासन ही है अर्थात् गुरु की  
आज्ञा बिना सम्पूर्ण गुण-स्वामी रहित सेनाकी तरह स्वाय ( मोक्ष )  
साधन में समर्थ नहीं हैं । आवाय-जैसे सेनापति के बिना सेना  
युद्ध काय में विजय प्राप्त नहीं कर सकती उसी प्रकार गुरु की आज्ञा  
बिना समस्त गुण मोक्ष साधक नहीं हो सकते ।

इति गुरुप्रक्रमः ।

अथ चतुर्विंशोऽर्जुनमवतारः त्रिनोक्तसिद्धावतस्य च माहात्म्य-  
माह—

न देव नादेव न शुभगुरुमेन न कुगुरु  
 न धर्मं नाधर्मं न गुणपरिणद्ध न निगुण ।  
 न कृत्य नाकृत्य न हितमहित नापि निपुण  
 विलोकन्ते लोका जिनवचनचक्षुरिरहिता ॥१७॥

व्याख्या—जिनवचनचक्षुर्विरहिता जिनवचनमेव चक्षुर्नेत्र  
 तेन रहिता सन्त लोका जीवा एतानि वस्तूनि न विलोकन्ते  
 न पश्यन्ति न जानन्ति इत्यर्थः । किं न विलोक्यन्ते देव सर्वश नित्य-  
 रागादिरित्यादिलक्षणोपेत न विलोक्यन्ते । पुन शुभगुरु सुगुरु  
 शुद्धप्ररूपक गुरु न जानन्ति । पुन कुगुरु पचाचाररहितगुरुसूत्र  
 प्ररूपकं न जानन्ति । पुन धर्म अधर्म च न जानन्ति धर्माधर्मयोरन्तर  
 न विदतीत्यर्थः । पुन गुणपरिणद्ध गुणैः परिपूर्णं गुणवत् पुन  
 निगुण गुणरहित निगुण च न जानन्ति गुणवत् निगुण च सदृश-  
 मेव पश्यति । पुन कृत्य करणीय कर्तुं योग्य वस्तु न जानन्ति । पुन  
 अकृत्य कर्तुंमनुचित अयोग्य न जानन्ति । कृत्याकृत्यविवेक न जान-  
 न्तीत्यर्थः । पुनर्निपुण सचानुर्थं च सम्यक् यथा स्यात्तथा आत्मनो  
 हित सुखकारण न जानन्ति । पुन अहित न अशुभकारण च न  
 जानन्ति जिनवचनश्रवण विना शुभाशुभयोरन्तर न जानन्ति । एव  
 शास्त्रा श्रीनिनप्रणोतसिद्धांताना श्रवण कतव्यः । कुर्यता च सता  
 यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिक्यमाला विश-  
 रत्तु ॥ १७ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ धीतराग के स्याद्वाद ( अनेकांत ) गर्भित वचन रूपी नेत्रों से रहित पुरुष देव अदेव को नहीं देखते हैं, सुगुरु कुगुरु को नहीं देखते, धर्म अधर्म को नहीं देखते, गुणवान निर्गुण को नहीं देखते, करने योग्य और न करने योग्य कार्य को नहीं देखते, और हित अहित को भी अच्छी तरह नहीं देखते अर्थात् जो सर्वज्ञ धीतराग प्रणीत जैन शास्त्रों को रुचि ( अद्या ) पूर्वक सुनते और पढ़ते हैं उन्हें भले बुरे का ज्ञान अच्छी तरह होता है अतः गृहकार्य छोड़कर भी जैन शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये ।

### शार्दूलविक्रीडितछन्द

मानुष्य निष्फल वदति हृदय व्यर्थं वृथा धोत्रयो  
निर्माण गुणदोषभेदकलना तेषामसमाविनीम् ।  
दुर्वार नरकान्धकूपपतन मुक्तिं वृथा दुर्लभा  
सार्पशः ममयो दयारसमयो येषा न कर्णातिथिः ॥१८॥

व्याख्या—सर्वज्ञ सर्वज्ञप्रणीत धीवीतरागदेवेन भाषित समय आगमो येषा पुरुषाणा कर्णातिथि कर्णगोचरो न जातो ये न श्रुत वृथा पठितास्तेषा मनुष्याणा मानुष्य मनुष्यजन निष्फल निष्फल वदति । लब्धमप्यलब्ध कथयति । तेषा हृदय चित्त व्यर्थं निरर्थक शून्य वदति । पुन तेषा धोत्रयो कर्णयो निर्माण करण वृथा निष्फल वदति । पुनस्तेषा गुणाना दोषाणा च यो भेदोऽतर तस्य कलना विचारणा असमाविनी अर्थात् दुर्लभा वदति । पुन नरकमेव अंधकूपस्तृणधल्लीवितानाच्छादित कूपस्तत्र पतन दुर्वार

वारयितुमशक्य कथयति । पुनस्तेषां मुक्तिं दुर्लभा कथयति । जिनां गमनं विना मुक्तिं मोक्षं न प्राप्नुवति । अतः श्रीजिनागम-  
भरणमेव कर्तव्यं भावः जिनापि श्रुतं हिताय भवति । यथा द्वेपेपि  
बोधकवचं यवणं विधाय, स्याद्बौद्धिणे इव जंतुरुदारलाभः । कषायो  
प्यग्निऽयोपि सरुजा सुगन्धोर्विर्वा सतापको पित्रगदगभृता हिताय  
इति ज्ञात्वा तिनवचनस्य अवगुणं कर्तव्यं कुर्वता । च सता यत्पुण्यमूढ-  
यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिक्यमाला विस्तरं तु ॥ १८ ॥

अर्थ—दयामयी सवश प्रणीत सिद्धांत जिन जीवों के कानों  
के अतिथि नहीं बने हैं अर्थात् जो बीतराग प्रणीत शास्त्रों को नहीं  
सुनते हैं उन मनुष्यों का मनुष्य जन्म पाना विफल है, हृदय व्यर्थ  
है, कानों का पाना पृथा है, गुण दोष के भेद ज्ञानकी विचार शक्ति  
उनके असमर्थ है, नरक रूपी अचकूप [ कुये ] का पतन उनके  
लिये दुर्गार है अर्थात् ऐसे पापी जीव नरक में अवश्य जाते हैं और  
मुक्ति पद की प्राप्ति तो ऐसे जीवों को अत्यंत दुर्लभ है ऐसा विद्वान्  
ज्ञानी पुरुष कहते हैं ।

शार्दूलविकीर्णितध्वज

पीपूषं विपनञ्जलं ज्वलनवत्तेजस्तमं स्तोमवत्  
मित्रं शात्रवत्सज्जं भुजगवच्चित्तमणिं लोष्ठरत्नम् ।  
ज्योत्स्नां ग्रीष्मजघर्मवत्सं मनुते कारुण्यपण्यापणं  
जैनेन्द्रं मतमन्यदर्शनममं यो दुर्मतिर्मान्यते ॥ १९ ॥

व्याख्या—यो दुर्मतिर् मूर्खं पुमान् जैनेन्द्रं मतं श्रीजिन-  
शास्त्रं अन्यदर्शनसमं अयदर्शनं बौद्धनैयायिकसारथवैशेषिक-

जैमनीयादिभिः सम सदृश मन्यते गणयति स मूर्खः पीयूषं अमृतं  
विषवत् विषेण तुल्यं मनुते गणयति । पुनर्जलं परमशीतलं पानीयं  
जलनवत् अग्नितुल्यं गणयति । पुनः तेजः सद्योतं तमः स्तोमवत्  
अधकारपुच्छवत् मनुते पुनर्मित्रं सखायं शाश्वतवत् वैरिसदृशं मनुते  
जानाति । पुनः स्रजं पुष्पमालां भुजगवत्सर्पंतुल्यं गणयति । पुनः स  
चिंतामणिरत्नं लोष्ठवत् पापाणसदृशं गणयति । पुनः स ज्योत्स्ना  
कौमुदी चन्द्रकांतिं ग्रीष्मजघन्मंत्रं उष्णकालं आतपवत् मनुते । अत्र  
पीयूषादिसमं जिनदर्शनं त्रिपादिसदृशाद्यवदर्शनानोत्पन्नं । किं  
भूतं जैनेन्द्रं मतं कारुण्यपण्यापणं दयारूपकयाणकस्यदृष्टं । एव मत्वा  
श्रीजिनमतमेवाङ्गीकर्तव्यं । कुर्याता च मता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्य-  
प्रसादादुत्तरोत्तरमागलिक्यमाला विस्तरन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि जैनेन्द्र दर्शन (मत) को अन्य मिथ्या  
दर्शनों के समान समझता है वह अमृत को विष तुल्य, जल को  
अग्नि-समान, प्रकाश को अधकार के समूह तुल्य, मित्र को शत्रु  
समान, पुष्पमाला को सर्प समान चिंतामणि रत्न को पाथर तुल्य  
चन्द्रमा की ठीी चादनी को ग्रीष्म ऋतु की गर्म धूप समान गर्म  
समझता है ।

शादूलविक्रीहितछन्द

धर्मं जागरयत्यथ विघटयत्पुत्थापयत्युत्पथं

भित्तेमत्परमुच्छिनत्ति कुनयं मथ्नाति मिथ्यामतिं ।

वैराग्यं नितनोति पुण्यति कृपां मृण्णाति तृष्णां च यत्

तज्जैनं मतमर्चति प्रथयति ध्यायत्यधीते कृती ॥२०॥



व्याख्या—कृती पठित यज्जिनेन्द्रमत श्रीजिनशासनजिनोक्त-  
 धचन अर्चयति पूजयति । पुन प्रथयति विस्तारयति । पुन ध्यायति  
 चिन्तयति । पुन अधीते पठति तत् स धर्मं जागरयति धर्मास्य जागरय  
 दीपन करोति । पुन अथ पाप विघटयति दूरी करोति । पुन उत्पद्य  
 चमार्गं अनाचार उत्थापयति निवारयति । पुनर्मत्सर गुणिषु द्वेषभाव  
 मि ते भेदयति । पुन कुनय क्रुसितनय अयाय उन्निद्धनति सम्मूलयति  
 पुन मिथ्यायति मप्नाति कूटयुक्तिं त्रिलोक्य दूरीकरोति । पुन वैराग्य  
 तनोति विस्तारयति । पुन कृपा दया पुष्टयति पोषयति । पुन लृष्णा  
 शृङ्खा लोभ मुष्ट्याति निराकरोति अथात् येन जिनमतमाराधित तेन  
 एतानि वस्तूनि निवृत्तानि इत्यर्थः । ओ भक्त्यप्राणिन् ! इति ज्ञात्वा  
 मनसि विभेकमानीय श्रीजिनमतप्रणीतसिद्धांतं च सम्पगाराधनीय ।  
 आराधयता च मता यत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यमसादादुत्तरोत्तरमाग  
 लिख्यमाणा विस्तरतु ॥ २० ॥

अर्थ—जो जैन मत उत्तम क्षमा आदि रूप धर्म को प्रकाश  
 मान करता है, पाप को हटाता है, उत्पद्यअथात् मिथ्याभास का खण्डन  
 करता है, मांसरता ( इर्ष्या ) का भेदन करता है, नाश करता है  
 एकांतवाद का खण्डन करता है मिथ्याबुद्धि को दूर करता है, वैराग्य  
 को बढ़ाता है दया को पुष्ट करता है और लृष्णा का शोषण करता  
 है ऐसे हितकर जिनमत [ जिनागम ] की सुकृतात्मा पुरुष पूजा  
 करता है प्रचार करता है, आराधना करता है, और पढ़ता  
 पढ़ाता है ॥ २० ॥ वह व्यक्ति उभयलोक में सुखी हो  
 है ।

इति जिनमतप्रस्ताव

अथ चतुर्विधस्य सघस्य महिमानमाह—

शादूलविक्रीडितछन्द

रत्नानामिव रोहणक्षितिधरः ख तारकाणामिव  
स्वर्गोऽकल्पमहीरुहामिव सरः पङ्केरहाणामिव ।

पाथोधिः पयसामिवेन्दुमहसा स्थान गुणानामसा—  
वित्पालोच्य निरच्यतां भगवतः सघस्य पूजाविधिः ॥२१॥

व्याख्या—भो भठ्या इत्यालोच्य इति विचार्य भगवत  
पूज्यस्य सघस्य पूजानिधिर्विरच्यता इतीति किं यत असौ सघ साधु-  
साध्वीश्रावकभ्रान्तिकारूपश्च चतुर्विधसघ सर्वगुणाना ज्ञानदर्शन-  
चारित्रविनयादीना स्थान निवास । क केपामिव । रोहणक्षितिधर ।  
रोहणश्चासौ क्षितिधरश्च पठ्वंतश्च रत्नानामिव यथा रोहणाचलो  
रत्नाना स्थान तथेत्यर्थः । पुनः ॥ आकाश तारकाणामिव पुनर्यथा  
स्वर्गः करपमहीरुहा कल्पवृक्षाणा स्थान तथेत्यर्थः । पुनर्यथा । सरस्त-  
ङ्गाग पङ्केरहाणा कमलानां स्थान तथा । पुनर्यथा पाथोधिः समुद्रः  
पयसा पानीयाना स्थान तथा किंभूताना पयसा इन्दुमहसा इन्दुवनि-  
र्मलाना अथवा शशीव महसा इति वा पाठः । यथा शशी चन्द्रो महसा  
तेनस्थान तथासौ सघो गुणाना स्थान । इन्दुवत् महो येषा तानि  
इन्दुमहासि तेषा एव श्रीचतुर्विधसघ सर्वगुणाना स्थान इति ज्ञात्वा  
श्रीसघस्य भक्ति कार्या । कुर्वता च सता तत्पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्य-  
प्रसादादुत्तरोत्तरभागलिख्यमाला विस्तरतु ॥ २१ ॥

अर्थ—जैसे रत्नोंकी उत्पत्ति का स्थान पर्वत होता है ताराओंका स्थान आकाश होता है, कल्पवृक्षों का स्थान धर्म होता है, कमलोंकी उत्पत्तिका स्थान सरोवर [ तालाब ] होता है, और अगाध जल का स्थान समुद्र होता है उसी प्रकार भगवान् त्रिनेत्र देवकी आज्ञानुसार चलने वाला मुनि आर्यिका भक्त आनिकाओं का सध चन्द्रमाके समान निमल गुणोंका स्थान होता है ऐसा विचार कर उसकी [ सधकी ] पूजा—सत्कार करना चाहिये ।

शादूलविक्रीडितछन्द

यः ससारनिरामलालसमतिर्मुक्त्यर्थमुत्तिष्ठते १

य तीर्थं कथयन्ति पावनतया येनास्ति नान्य सम ।

यस्मै देवपतिर्नमस्यति सतायस्माच्छुभ जायते

स्फूर्तिर्यस्य परा वसति च गुणयस्मिन्ससधोऽर्च्यता ॥२२॥

व्याख्या—भो भग्या भवद्भि स श्रीचतुर्विधसध अध्यता पूज्यता छ क य सध ससारनिरामलालसमति सन् ससारस्य निरासे निराकरणे त्यागे लालसा इच्छा यस्या सा इदृशीमति बुद्धिर्यस्य स ईदृश सन् मुक्त्यर्थं मुक्तिसाधनार्थं उत्तिष्ठते साध-  
धानो भवति । पुन य सध पावनतया पवित्रत्वेन तीर्थभूत कथ-  
यति । पुन येन सधेन सम सदृशोऽय कोपि नास्ति । पुनर्यस्मै सधाय स्वर्गपतिर्देवपति इ व स्वय नमस्यति नमस्कार करोति । पुनर्यस्मात् सधान् सता सञ्जनाना शुभकल्याण जायते उत्पद्यते । पुनर्यस्य सध-  
स्य स्फूर्तिर्महिमा परा उत्कृष्टा वर्तते । पुनर्यस्मिन् सधे गुणा गाभीर्य्य  
१ देवपति नमस्यति इति पाठांतरम् ।

धैर्यादय मूलगुणोत्तरगुणश्च वसति तिष्ठति । एष ह्यात्मा मो  
भव्यप्राणिन् । मनसि त्रिवेकमानीय श्रीसद्यस्य पूजा भक्तिश्च प्रकर्त-  
व्या कुर्वता च यन् पुण्यमुत्पद्यते तत्पुण्यप्रसादादुत्तरोत्तरमागलिक्य-  
माला विस्तरन्तु ॥ २२ ॥

अर्थ—जो मसार के त्रिपय भोगों में बाँधा रहित बुद्धि  
वाला है तथा मुक्ति प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील है, रत्नत्रयादि  
गुणों से पवित्र आत्मा होने के कारण जिसको महापुरुष तीर्थ कहते  
हैं जिस [ चतुर्विध सद्य ] के समान कोई दूसरा तीर्थ नहीं कहा जा  
सकता [ वस्तुतः तीर्थ यही है जहाँ पवित्रात्मा आत्म कल्याण करते  
हैं ] जिसके लिए इन्द्रादि देव नमस्कार करते हैं, जिससे [ चतुर्विध  
सद्य से ] ससार के जीवों का कल्याण [ उत्थान ] होता है, जिसकी  
महिमा वस्तुष्ट है, जिसमें सद्य गुणों का निवास है अर्थात् जो गुणों  
का भण्डार है ऐसा चार प्रकार का सद्य प्रत्येक प्राणी द्वारा पूजा के  
योग्य है अर्थात् चतुर्विध सद्य की मन वचन काय से पूजा सेवा  
करना चाहिये इसी में प्रत्येक प्राणी का कल्याण निहित है ।

इस त्रिपय में श्री सोमदेव आचार्य की उक्ति है—

कलौ काले चले चित्ते, देहे चान्नादिकोटके ।

एतच्चित्र यदद्यापि, जिनरूपधरा नरा ॥

इसका अर्थ यह है कि यह पचम काल हुएदावसर्पिणी का  
काल बढ़ा भयकर है प्राय लोगों की मनोवृत्ति चंचल है—स्थिर नहीं  
है, शरीर अन्नका कीड़ा बन रहा है जिनके रात दिन एकसा है  
खाने पीने का रात दिन का कोई विचार नहीं है ऐसे कलिकाल

में यदि जिनलिंग के धारी मुनि, आर्यिकादि विद्यमान हैं पाये जाते हैं सो यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ २२ ॥

शार्दूलविक्रीडितशब्द

लक्ष्मीस्त स्वयमभ्युपैति रमसात्कीर्तिस्तमालिगति  
प्रीतिस्त भजते मति प्रयतते त लघुमुत्कण्ठया ।  
स्वधीस्त परिरब्धुमिच्छति मुहुर्मुक्तिस्तमालोकते  
य सद्य गुणराशिकेलिसदन श्रेयोरुचि सेवते ॥ २३ ॥

व्याख्या—य पुमान् श्रेयोरुचि सन् श्रेयसि कल्याणे धर्मे  
वा रुचिरभिलाषो यस्य स श्रेयोरुचि ईदृश सन् धीसद्य सेवते त  
पुरुष लक्ष्मी सप्तात् रमसा वेगेन स्वयमात्मना अभ्युपैति समुप-  
मायाति । पुनः कीर्तिस्त पुरुष आलिङ्गति आलिङ्गनं ददाति । पुनः  
प्रीति स्नेहात् भजते सेवते । पुनर्मतिर्बुद्धिं उत्कण्ठया उत्सुकतया कृत्वा  
त नर लघु प्राप्तुं प्रयतते यत्नं करोति । पुनः स्वधी रमलक्ष्मी-  
स्त मुहुवारं वारं परिरब्धु आलिङ्गितुमिच्छति । पुनर्मुक्तिं मोक्षस्त  
पुरुष आलोकते पश्यति । किमिशिष्टं सद्य गुणराशिकेलिसदन गुण-  
समूहस्य ग्रीवागृह एव ज्ञात्वा सद्य सेव्य ॥ २३ ॥

अर्थ—कल्याण का इच्छुक जो पुरुष रत्नत्रयादि गुणों के  
क्रीड़ा करने का मन्दिर जो चतुर्विध सद्य ( जिनसद्य ) की सेवा  
करता है, लक्ष्मी उसे शीघ्र ही चारों तरफ से प्राप्त होती है, कीर्ति  
उसका आलिङ्गन करती है अर्थात् उसकी सर्वत्र कीर्ति वितरित होती  
है, प्रीति सेवा करती है [ उससे सभी प्राणी स्नेह करते हैं, उसे

चाहते हैं ] सुबुद्धि उसको सरकण्ठा से प्राप्त करने का प्रयत्न करती है अर्थात् उसे शीघ्र ही सम्यग्ज्ञान [ आत्मज्ञान ] की प्राप्ति होती है, स्वर्ग की लक्ष्मी उसे प्राप्त करने के लिए बार बार इच्छा करती है और तो क्या ? मुक्ति उसके देखने की प्रतीक्षा करती है ॥ २३ ॥

शादूर्लत्रिकीदितछन्द

यद्भक्तेः फलमर्हदादिपदवीमुख्य कृपे शस्यवत् ।  
चक्रित्वत्रिदशेन्द्रतादितृणवत् प्रासङ्गिक गीयते ॥  
शक्तिं यन्महिमस्तुतौ न दधते वाचोऽपि वाचस्पते ।  
मघ सोऽघहरः पुनातु चरणन्यासैः सता मन्दिर ॥ २४ ॥

व्याख्या—स श्रीसघरचरणन्यासैः स्वपादस्थापनैः कृत सता सत्पुरुषाणां साधुमनुष्याणां मन्दिर गृह पुनातु पत्रित्रयतु । स क यद्भक्ते यस्य मघस्य भक्ते अर्हदादिपदवी तीर्थकरादिपदप्राप्ति-मुख्य फल वर्तते किंवा कृपे क्षेत्रादे शस्यवत् धान्यवत् चक्रित्वत्रिद-शेन्द्रतादिचक्रवर्तिन इन्द्रपदत्वादिक चप्रासङ्गिक प्रसगादागत फल गीयते कथ्यते किंवा कृपेस्तृणवत् पलालादिवत् । पुनर्यन्महिमस्तुतौ यस्य सघस्य प्रभाववर्णनं यस्मिन् वाचस्पतेरपि वाचो वाच्य शक्तिं सामर्थ्यं न दधते न धारयति । किंविशिष्टं सघं अघहर अघ पाप हरति य स अघहर इति ज्ञात्वा भीसघं स्वगृहे आहूय सम्यक्-पूजनीय ॥ २४ ॥

अर्थ—खेती करने का मुख्य उद्देश्य अन्न पैदा करना है, उसी प्रकार सघ की भक्ति का मुख्यफल अरिहन्त आदि पदवी प्राप्त

करना है। खेती का गौण कठ घास आदि है, उसी प्रकार भक्ति का गौण फल चक्रवर्ति, इन्द्रपना आदि ससार की विभूति प्राप्त करना है, जिस सध की महिमा स्तुति करने में बृहस्पति के वचन भी शक्ति नहीं रखते हैं, ऐसा वह पाप का हरण ( दूर ) करने वाला सध अपने चरण-यास से सज्जनों के मन्दिर ( घर ) को पवित्र करें ऐसा यह आशीवाद सूचक वचन है ॥ २४ ॥

इति सधप्रक्रम

अथ हिसानिपेधेन सत्त्वेषु दयैव क्रियतामित्यर्थः ।

प्रीडाभू. सुकृतस्य दुःकृतरज सहारवात्पा मयो-  
दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली सङ्केतदूती त्रिया ।

नि श्रेणिस्त्रिदिवीकसः प्रियसखी मुक्ते हुगत्यर्गला  
सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशोरशेषैः परै ॥२५॥

व्याख्या—भो भव्या सत्त्वेषु जीयेषु कृपा एव दया एव क्रियता । परैर-चैरशेषै समस्तै क्लेशै कायकष्टकरणै भवतु पूर्यता मा क्रियतामित्यर्थः । कथभूता कृपा सुकृतस्य पुण्यस्य प्रीडाभू प्रीडा-स्थान । पुन कथभूता दुःकृतरज सहारवात्पा दुःकृत पाप तदेव कर्ममलहेतुत्वान् रजस्तस्य सहारे सहरणे वात्पा वायुसमूहतुल्या । पुन कथभूता भवोद-व-नी भव एव ससार एव वद-पानिबोद-म्वान् समुद्रमवत्र नो नौका । पुन कथभूता व्यसनाग्निमेघपटली व्यसनानि कष्टान्येवतापहेतुत्वान् अग्नयो बह्व्यस्तेषु मेघपटली मेघ पटासमाना । पुन कथभूता त्रिया सङ्केतदूती त्रिया लक्ष्मीनां सङ्केतदूती सङ्केतकयका । पुन कथभूता मुक्ते प्रियसखी मुक्ते

मोक्षाय वयस्या । पुन कथभूता कुगत्यर्गला कुगनेर्दुर्गते अर्गला  
द्वारपरिघ इति ज्ञात्वा जीवेषु कृपा एव क्रियता ॥ २५ ॥

अर्थ—उपरोक्त श्लोक में आचार्य ने दया का माहात्म्य दिखाया है, कि—वह फाय के जीवों की रक्षा रूप दया कर । यही सत्र जप तपादि हैं । यदि तू जपतपादि करता है और दया पालन नहीं करता तो वह सब व्यर्थ है । वह दया कैसी है ? पुण्य की मीठा करने की भूमि है, पाप रूपी रज [ धूल ] को नष्ट करने के लिये पवन के समान है, ससाररूपी समुद्र को तिरने के लिये नाव के समान है, व्यमन रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघवृष्टि है, लक्ष्मी को बुलाने के लिये दूती समान है, स्वर्ग के चढ़ने के लिये नसैनी समान है, मुक्ति की प्यारी सखी है, और कुगतिगमन के रोकने को आगल समान है, ऐसी कृपा जीवों पर करो अन्य दूसरे किसी क्लेश को सहन करने से क्या लाभ है । दया ही सर्व श्रेष्ठ है, ऐसा ज्ञान कर समस्त जीवों पर दया करना योग्य है ।

शिखरिणीछन्दः

यदि भ्राता तोये तरति तरणिर्यद्युदयते ।

प्रतीच्या सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्य कथमपि ॥

यदि क्षमापीठ स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः ।

प्रसूते सत्त्वाना तदपि न वधः क्वापि सुकृत ॥२६॥

व्याख्या—यदि भ्राता पापाणस्तोये जले तरति । पुनर्यदि तरणि सूर्यं प्रतीच्या परिचमाया दिशि उदयति । पुन, सप्तार्चिच



व्याख्या—कृपाद्रो तर कृपया आर्द्र अन्तर मध्य यस्य तन्  
 कृपाद्रो तर इष्टा चेत् चित्त करोति स पुमान् स्वयम् आयु  
 र्जीवित दीप्ततर अधिक करोति । तथा यत् शरीर वरतर अति  
 प्रधान करोति । पुनर्गोत्र नाम कुला वा गरीवतर अतिगरिष्ठ तृचै-  
 गोत्ररूप करोति । पुनर्वित्त धन भूरितर अतिप्रचुर करोति । पुनपन  
 वीर्यं यद्वतर प्राज्य करोति । स्वामित्व प्रभुत्व तृचैतर सर्वोद्विष्ट  
 करोति । तथा आरोग्य नीरोगत्व विगतान्तर अन्तररहित निरन्तर  
 करोति । तथा त्रिभुवनस्य त्रिभुवनस्य रक्षापते रक्षापनीपता अरूपे  
 तर प्रचुर करोति । त्रिभुवनमपि त रक्षापते । तथा ससाराम्मुनिधि  
 भवसमुद्र सुतर सुखेन तरीनुं शक्य करोति । दयासहित चेत् एतानि  
 यस्तूति करोति उत्पादयति अत कारणात् सर्वे जीयेषु दयैव कर्त-  
 व्या । अत्रोपरधराज्ञो दृष्टात् । तथा हरिवल्लभीवरस्य च दृष्टातो  
 धान्य ॥ २८ ॥ इति अहिंसा प्रक्रम ।

अर्थ—दया से आर्द्र अर्थात् भीगा है चित्त निमका ऐसा  
 पुरुष अपनी आयु को बढ़ाता है, शरीर को मनोह्र करता है, गोत्र  
 को बढ़ाता है, धन को बढ़ाता है स्वामीपना को वरुच करता है  
 आरोग्यता को अन्तराय रहित करता है तीनलोक में अधिक प्रशसा  
 का भाजन होता है, ससार समुद्र को आसानी से पार करता है ।

भाषाण—दयालु पुरुष दीर्घायु हात हैं, मनोह्र शरीर प्राप्त  
 करते हैं, प्रशस्त गोत्र प्राप्त पाते हैं, अधिक वैभव शाली होते हैं,  
 वल्लभ होते हैं, अनेक पुरुष जिनके आगे नतमास्तक होते हैं, ऐसा  
 स्वामित्व प्राप्त करते हैं, सदा आरोग्य शरीरवाले होय हैं, तीन लोक  
 में वश के भाजन होते हैं ये ससार पार कर मुक्तिपद पाते हैं ॥ २८ ॥

अथ सत्यवचनस्य प्रभाव प्रकटयति—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्वासायतन विपत्तिदलन देवैः कृताराधन ।  
मुक्तेः पथ्यदन जलाग्निशमन व्याघ्रोरगस्तम्भन ॥  
श्रेयस्मयनन समृद्धिजनन सौजन्यसजीवन ।  
कीर्त्तेः केलिनन प्रभावमवन सत्य वच पावन ॥२९॥

व्याख्या—भो भव्या ! सत्य वचो हित प्रिय वदत्विति शेष । कथभूत सत्य वच विश्वासायतन विश्वासस्य आश्रयतन स्थान पुन कथभूत विपत्तिदलन विपत्तीना आपदा स्फोटक । पुन कथभूत देवै सुरै कृताराधन सेवन यस्य तत् । पुनमुक्ते सिद्धे पथि मार्गे अदन सबल । तथा जलाग्निशमन जलाग्न्यो वपशामक । पुन कथभूत व्याघ्रोरगस्तम्भन व्याघ्राणा सिंहाना वरगाणा सर्पाणा च तम्भकारक । पुन भयसो मोक्षस्य कल्याणस्य वा सवनन वशीकरण । पुन समृद्धिजनन समृद्धीना सपदा संपादक । पुन कथभूत सौजन्यसजीवन सुजनताया सजीवा समुत्पादक । तथा कीर्त्तयैशस केलिवा कीर्त्तावा । पुन कथभूत प्रभावमवन प्रभावस्य महिम्नो गृह । पुन कथभूत पावा पवित्रकारकमित्यर्थ ॥ २९ ॥

अर्थ—सत्य वचन कैसा है ? विश्वास का घर है विपत्ति को दूर करने वाला है, देवों के द्वारा जिसका आराधन किया गया है, मुक्ति के लिये पायेय ( कलेवा ) समान है, जल और अग्नि को शांत करने वाला है अर्थात् सत्य के प्रताप से जल, तथा अग्नि का

भय, या महान् सकट भी प्राप्त हो जाता है, व्याघ्र ( बाघ ) मर्प को त्तप्तन करने वाला है, वज्राणु का वशीकरण है अर्थात् कल्याण का गृह है समृद्धि को पैदा करने वाला है, सञ्जनना का जीवन है, कीर्ति का प्रदीपन है, प्रभाव का मंदिर है, ऐसा पवित्र मायवचन निरंतर बोलना योग्य है ॥ २९ ॥

पुनरसत्यवचनाय बोधनाह—

शिवरिणीध्वम्

यशो यस्माद्भस्मीभवति वनवहेरिव यत ।

निदानं दुःखानां यदवनिरहाणां जलमिव ॥

न यत्र स्याच्छायाऽऽतप इव तपः सवमकथा ।

कदाचित्तन्मिथ्यावचनमभिधत्ते न मतिमान् ॥ ३० ॥

व्याख्या—स मतिमान् बुद्धिमान् पुमान् कदाचित् कष्टेऽपि सति तन्मिथ्यावचनं असत्यवचनं न अभिधत्ते न जल्पति । तत् किं यस्मात्मिथ्यावचनाद्यशः कीर्तिर्भस्मीभवति विनश्यति । यस्मात्कृमिव । वनवहेर्दीवाग्नेर्वनमिव । यथा दावानलात् या भस्मीभवति तथा । पुनर्यन्मिथ्यावचनं दुःखानां निदानं कारणं । केन किमिव अवनिरहाणां पृष्ठाणां जलमिव । यथा जलं पृष्ठाणां कारणं तथा । पुनर्यत्र मिथ्यावचने तपः सवमकथा तपरचारित्र्यो बोधोऽपि न । कस्मिन् का इव । आतपे सूर्यातपं छाया इव । यथा आतपे छाया न स्यात् तथा ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस असत्य वचन से यश इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे यत की अग्नि ( दावानल ) से वन भस्म हो जाता है । जो

असत्य वचन वृक्षों के लिये जल के समान दु खों का मुख्य कारण है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जल यद्यपि वृक्षों की वृद्धि का कारण है—जल सींचने से वृक्ष बढ़ते हैं परन्तु अधिक जलप्रवाह (जलधारा) से वृक्षों की जड़ें फट जाती हैं और वृक्ष पृथ्वी पर गिर जाते हैं, वसी प्रकार असत्य भाषण से अनेक दुःख सकटों के बादल सिर पर महराते हैं तथा जिसप्रकार धूप में छाया के सुख का अनुभव नहीं होता वसी प्रकार मूठ वचन बोलने वाले व्यक्ति को तप और सयम के सुख का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता अतः असत्यवचन के उपरोक्त दोष जानकर असत्य सर्वथा त्याज्य है ॥ ३० ॥

वशात्यद्ध

असत्यमप्रत्ययमूलकारणम्

कुवासनामत्र समृद्धिवारणम् ।

विपन्निदानं परवचनोर्जित

कृतापराधं कृतिमिर्विजितम् ॥ ३१ ॥

व्याख्या—इति कारणात् कृतिभिः पठितैः असत्य कूट विशेष-  
 पेण वजित परिहृत यतोऽसत्य अप्रत्ययमूलकारण अविरवाप्तस्य मूल-  
 हेतु । पुनः कुवासनायाः कुबुद्धेः पापबुद्धेः सद्यः गृह । पुनः  
 - समृद्धिवारणं समृद्धेर्लक्ष्म्याः धारणं निराकरणं । पुनर्विपन्निदानं  
 - विपदा कष्टानां निदानं कारणं । पुनः परवचनोर्जितं परेषां वचने  
 विप्रतारणे ऊर्जितं बलिष्ठं । पुनः कृतापराधं कृतं अपराधं अग-  
 यस्य तत् । अतः परासत्यवचनं न वक्तव्यं ॥ ३१ ॥

अर्थ—असत्य वचन अगिरास का मुख्य कारण है अर्थात् असत्यभाषी ( झूठ वचन बोलने वाले ) का कोई विश्वास नहीं करता, खोटी वामनाओं ( धुरेविचारों ) को पैदा करने वाला है समृद्धि को निवारण करने वाला है अर्थात् झूठ वचन से धन वैभव सब नष्ट हो जाता है विपत्तिका मूल कारण है पर के ठगपने सहित है अर्थात् झूठा व्यक्ति सदा दूसरों को ठगता रहता है, असत्यभाषी अपनेको अपराध करता है ऐसा असत्य वचन सत्पुरुषा द्वारा सदा त्यागने योग्य है ॥ ३१ ॥

अथ सत्यप्रभाव दर्शयति—

शादूलबिम्बीद्वितल्लद

तस्याग्निर्नलमर्णवः स्थलमरिर्मित्र सुरा किंकराः  
कान्तार नगर गिरिर्गृहमहिर्मान्य मृगारिर्मृगः ।

पाताल विमलस्रमुत्पलदल व्याल शृगालो विष  
पीयूष विषम सप्त च वचन सत्याश्रित वक्ति यः ॥३२॥

व्याख्या—यः पुमान् सत्याश्रितं मत्ययुक्तं वचो वचन वक्ति प्रूते । तस्य पु सोऽग्निर्बहिः मत्यप्रभावाञ्जला स्यात् । तथार्थेन मगुद्रं स्थलं स्यात् । तथा अरिः शत्रुर्मित्रं स्यात् । पुनः सुरा देवा किंकराः सेवका आदेशकारिणः स्युः । पुनः कान्तारं अरण्यं नगरं स्यात् । तथा गिरिः पर्वतो गृहं स्यात् । पुनर्गृहं सर्पो माह्वं स्रक् स्यात् । तथामृगारिः सिंहो हरिण इव स्यात् । तथा पातालं रसातलं विषं विषरूपं स्यात् । तथा अस्त्रं शस्त्रं स्रमुत्पलदलं कमलपत्रसदृशं

स्यात् । तथा व्यालो दुष्टगज शृगाल इव स्यात् । पुत्रिपि हालाहल  
पीयूष अमृतं स्यात् । विषम सकट तथा सम सपद्रूप स्यात् । सत्य-  
प्रभावादत सत्यमेव वक्तव्य । अत्र वसुराजा पर्वत नारददृष्टातः  
॥ ३२ ॥

इत्यनुत्तप्रक्रम ।

अर्थ—जो पुरुष सत्यवचन बोलता है उसके अग्नि जल  
रूप में परिणत हो जाती है ममुद्र स्थल रूप हो जाता है, शत्रु मित्र  
हो जाता है, देव नौकर हो जाते हैं, वन नगर, तथा पर्वत महल हो  
जाता है, सर्प फूलों की माला हो जाता है, सिंह हिरण के समान हो  
जाता है, पाताल बिल के तुल्य हो जाता है, शस्त्र कमल पत्र  
के समान हो जाते हैं, भयकर हाथी श्याल ( गीदड़ ) समान हो  
जाता है, निष अमृत रूप तथा विषम वस्तु सम रूप में परिणत हो  
जाती है । यह सत्य वचन का ही प्रभाव है । सत्यके प्रतापसे ससार  
की सब दुर्लभ वस्तुयें सुलभता से प्राप्त होती हैं ऐसा जान कर  
सदा सत्य व्यवहार करना योग्य है ॥ ३२ ॥

अथ अदत्तादानयुत्तमाह—

मालिनीञ्जद

तमभिलपति सिद्धिस्त धृणीते समृद्धिस्  
तमभिमरति कीर्तिर्मुञ्चते तं भवार्तिः ।

स्पृहयति सुगतिस्त नेक्षते दुर्गतिस्तं  
परिहरति विषय यो न गृह्णात्यदत्तं ॥ ३३ ॥

व्याख्या—य पुमान् अदत्त अवितीर्णं प्रस्तायात् परविश  
 किंचिद्वास्तु या न गृह्णाति त पुरुष सिद्धिमुक्तिरभिलषति वाच्छति  
 पुनस्त समृद्धिरित्यादिसम्पद् गृणीते । तथा कीर्तिर्घश स्त अभि-  
 मरति प्रत्यागच्छति । भवार्ति ससारपीडा त मुचते त्यजति । तथा  
 सुगतिर्देवमनुष्यरूपा त शृह्यति वाञ्छति । तथा दुगतिर्नरकतियक्  
 रूपा त पुरुष न परयति नेच्छते । विपद् आपद् त परिहरति त्यजति  
 त य यो अदत्त न गृह्णाति ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो पुरुष गिरा पड़ा मूला, रत्ना हुआ बिना दिया  
 पदार्थ रख नहीं प्रदण करता और न दूसरों को देता है उस पुरुष  
 की मुक्ति भी अभिलाषा करती है । श्रद्धिया उसका वरण करती है  
 कीर्ति उसके चारों ओर फैलती है, ससार की पीडा उसे त्याग देती  
 है, उत्तमगति उस चाहती है अर्थात् वह पुरुष मर कर उत्तम गति  
 पाता है, दुगति उस आँख उठा कर भी नहीं देखती, विपत्तिया उसके  
 सिर पर मैंढराती नहीं हैं । अदत्तत्यागका ऐसा साहाय्य जान कर  
 उसका आचरण करना कल्याणकारी है । और भी कहते  
 हैं—

भूयोप्यदत्तादानगुणानाह—

शिशिरिणीक-३

अदत्त नादत्ते कृतमुकृतकाम किमपि यः  
 गुमथ्रेणिस्त्रिम्बित्वमति कलहमीय कमले ।

विपत्तस्माद्दूरे व्रनति रजनीनाम्बरमये

विर्नत विद्येन त्रिदिनगिरलक्ष्मीर्मनति त ॥३४॥

व्याख्या—य पुमान् कृत सुकृते पुण्ये अभिलाषो येन ईदृश सन् अदत्त परकीय किमपि वस्तु नादत्ते न गृह्णाति । तस्मिन् पुंसि शुभश्रेणि कल्याणपरम्परा वसति निवास करोति । कस्मिन् केव कमले कलहसीव यथा कमले कलहसी वसति । तथा पुनस्तस्मात्पुरुषास् विपरकष्ट दूर प्रजति दूरे याति । कस्मात्केन अम्बरमणौ सूर्याद् रजनीव यथा सूर्याद्वात्रिदूरे प्रनति तथा । पुनस्त्रिदिवशिवयो र्वर्गापवर्गयो लक्ष्मी श्री स्त भजते सेवते क केव विनीत विद्यैव यथा विद्या विनीत विनयान्वित पुरुष विद्या भजति आगच्छति तथा ॥ ३४ ॥

अर्थ—कौ है पुण्य कौ बाँझा जिसने ऐसा जो पुरुष किंचित् मात्र भी जिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करता है उसको कमल में कलहसी के समान कल्याण की परम्परा प्राप्त होती है, सूर्यसे जैसे रात्रि दूर भागती है उसी प्रकार उससे विपत्ति दूर भाग जाती है, जैसे विद्या विनम्र पुरुष को प्राप्त होती है वैसे ही उसे स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ३४ ॥

व्यतिरेकेणाह—

शार्दूलविक्रीडितछन्दः

यन्निर्वर्तितकीर्तिधर्मनिधन सर्वाङ्गसां साधनं  
प्रोन्मीलद्वधन्धन विरचितविलष्टाशयोद्धोधन ।

दोर्गत्यैकनिबन्धन कृतमुगत्यारलेपसरोधन  
प्रोत्सर्पत्प्रधन जिघृक्षति न तद्धीमानदत्तं धन ॥ ३५ ॥



व्याख्या—धीमान् विद्वान् पुमान् अदत्त धन परकीय वस्तु  
 न जिघृक्षति गृहीतु नेच्छति । तत् किं यत् अदत्त निवर्तितकीर्ति  
 धर्म निधन स्यात् । निवर्तित कृत कीर्तिधर्मयोर्निधन विनाश  
 येन तत् । तथा मर्यागसा साधन सर्पाणि च तानि अगासि च  
 सर्पागस स्तेषा सर्वागसा मवापराधाना साधन हेतु स्यात् । पुन  
 प्रोमीतद्वधधन बधो लकुटादिताडन यधो रज्ज्वादिना यधन प्रो  
 मीक्षति प्रगटीभयति यधयधनानि यत्र तत् । पुनर्विरचित क्लिष्ट  
 शयोद्वन्द्वधन विरचित क्लिष्टाशयस्य दुष्टाभिप्रायस्य उद्वेगधन प्रकट  
 येन तत् । पुनर्दौर्गत्येकनिधधन । दौर्गत्यस्य दारिद्र्यस्य एक अद्वितीय  
 निधधन कारण । पुन कृतसुगत्याश्लेषसरोधन कृत सुगतेराश्लेष  
 आलिंगस्य सरोधन निवारण येन तत् । पुन प्रोत्सर्पप्रसरत् प्रचन  
 मरण यस्मात् तत् तथा । ईदृश अदत्त धीमान् न जिघृक्षति ॥ ३५ ॥

अर्थ—विना दिया हुआ धन कैसा होता है—जिसे ग्रहण  
 करने से कीर्ति और धर्मका नाश हो जाता है समस्त पापों का  
 कारण है जिससे प्राणी का वध यधन होता है सकलेश आश  
 ( भावों ) को पैदा करनेवाला है, दुर्गति के वध का अद्वितीय  
 कारण है, सुगति के आलिंगन को रोकने वाला है, जो मुक्त करा  
 में सहायक है ऐसे विना दिये धन को बुद्धिमान् पुरुष ग्रहण कर  
 की कभी भी इच्छा नहीं करते ॥ ३५ ॥

पुनरदत्तदोषमाह—

हरिणीञ्च द

परजनमनः पीडाक्रीडा वन वधमाधना—  
 मरनमवनिव्यापि व्यापल्लता धनमण्डल ।

कुगतिगमने मार्गः स्वर्गापवर्गपुरार्गलं ।

नियतमनुपादेय स्तेय नृणा हितकाक्षिणा ॥३६॥

व्याख्या—नियत निश्चित हितकाक्षिणा हितमिच्छता नृणा पुरुषाणा स्तेय चोर्गे अनुपादेय अग्राह्य भवति । अदत्त अग्रहणीय स्यात् । किंभूत अदत्त, परजनमन पीडाक्रीडावन परे च ते जनारच परजना स्तेपा मनासि चित्तानि तेषा पीडा बाधा तस्या क्रीडावन रमणीयोद्यान । पुन वधभावनाभवन वधस्य हिंसाया भावना चित्तन तस्या गृह । पुन अधनिष्क्यापिष्यापल्लता घनमडल अधन्या व्यापिनी प्रसरणशीला या व्यापत् आपद् सैव लता वल्ली तस्या घनमडल मेघपटल । पुन कुगतिगमने मार्ग अग्रा । पुन स्वर्गापवर्गपुरार्गला, स्वर्गापवर्गाश्वेव देवलोकमोक्षी एव पुर नगर तत्र अगला परिघ । ईदृश स्तेय हितकाक्षिणा नृणा अग्राह्य स्यात् । अत्र रोहणीकथा वाच्या ॥ ३६ ॥

इति स्तेय प्रक्रम

अर्थ—चोरी फैंसी है— दूसरे मनुष्यों के मनको पीड़ा देना रूपी क्रीडा का वन है अर्थात् अपने तथा दूसरे के लिये मन स ताप का कारण है, पर के मारने की भावना का घर है अर्थात् चोरी करने वाले के दूसरोंको मारने की भावना बनी रहती है, पृथ्वी में व्याप्त आपत्ति रूपी लता के बढ़ाने को मेघों का समूह है अर्थात् चोरी से अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है कुगतिक गमन का सीधा मार्ग है, स्वर्ग तथा मोक्ष रूपी नगर की चक्रेष्ट अर्गला है अर्थात् चोरी करनेवाला स्वर्ग नहीं जा सकता, इस प्रकार की चोरी हित के बालक पुरुषों द्वारा अग्रह्य ही निश्चित

रूप से त्यागने योग्य है ॥ ३६ ॥

अथ मैथुनगतमाश्रित्योपदेशमाह—

शार्दूलविश्वोदितश्च

दत्तस्तेन जगत्प्रकीर्तिपटहो गोत्रे मपी दूर्ध्व-  
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।

सकेतः सकलापदा शिवपुरद्वार कपाटो दृढः ॥

कामार्तस्त्यजति प्रमोदयभिदां शस्त्रीं परस्त्रीं न यः ॥ ३७ ॥

व्याख्या—य पुमान् कामात् कामपीडितः परस्त्रीं परनारीं  
न त्यजति तेन पुमान् जगति विश्वे अकीर्तिपटहो दत्तः वादितः ।  
निर्मले गोत्रे स्वकीये वशे मपीदूर्ध्वको दत्तः । पुनश्चारित्रस्य शै-  
विरतिरूपसर्वविरतिरूपसयमस्य जलाञ्जलिर्दत्तः । पुनः गुणगणा-  
रामस्य दावानलः गुणानां गणां समूहा एव आरामा यन्तस्य  
दावानलो दवाग्निर्दत्तः । पुनस्तेन सकलापदा समस्तकष्टाः सकेतो  
दत्तः मिळनस्थानं कथितं । पुनस्तेन शिवपुरद्वार मुक्तिनगरीद्वारे  
दृढः कपाटो दत्तः । शीलरहितस्य मुक्तिगमनायोगात् । पुनः किं वि-  
शिष्टा परस्त्रीं प्रभाया वदयः प्रमोदयः अथवा प्रभारश्च वदयश्च प्रमो-  
दयः तयोर्भिदायां शस्त्रीप्रभाः । पाठावतरे तु शीलं येन निजं विलुप्त-  
मस्मिन् प्रैलोक्यचिन्तामणिः । येन निजं शीलं विलुप्तम् तेन एतानि  
वस्तूनि कृतानि ॥ ३७ ॥

अथ—असि पुरुष ने तीन लोक में चिन्तामणि रत्न समान

अपना समस्त शील व्यो दिया उसने जगत में अपकीर्ति ( बदनामी ) का ढोल बनाया, अपने वश में कालिमा लगाई, चारित्र्य को जला-जलि देदी, गुणों के समूहरूप बाग में आग लगादी समस्त आप-त्तियों का सकेत स्थान कुशील है जिसने शील बिगाड़ा उसने मोक्ष नगर के दरवाने में दृढ़ता से किराड़ लगा दिये । ऐसा जान कर कुशील का त्याग करना योग्य है ॥ ३७ ॥

पुन शीलगुणान् वक्ति—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां व्रजति क्षय ।

कल्याणानि ममुल्लसति विबुधाः सान्निध्यमध्यामते ॥

कीर्तिं स्फूर्तिमियति यात्युपचय धर्मः प्रणश्यत्यथ ।

स्वर्निर्माणसुरानि सनिदधते ये शीलमाविभ्रते ॥३८॥

व्याख्या—ये नरा शील ब्रह्मचर्य आविभ्रते धारयति तेषां

पु सा व्याघ्रव्यालजलानलादिविपद क्षय याति । व्याघ्र प्रसिद्ध

व्यालो दुष्टगज सर्पो वा जल पानीय नदीसमुद्रादि अनलो वह्निस्तेषां

विपद कष्टानि ते कृता विपद क्षय व्रजति क्षय याति । पुन कल्या-

णानि श्रेयासि समुल्लसति वृद्धि प्राप्नुवति । पुनस्तेषां विबुधा देवा

सान्निध्य अध्यासते साहाय्य कुर्वन्ति । पुनस्तेषां कीर्तिं स्फूर्तिमियति

विस्तार याति । पुन तेषां धर्मो दानादिविधिरुपचय पोष याति ।

पुनस्तेषां अथ पाप प्रणश्यति नाश याति । पुनस्तेषां स्वर्निर्माणसुरानि

स्वर्गोपवर्गसुग्यानि सनिदधते समीपमायाति । ये शील विभ्रते तेषां

एतानि भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो पवित्र शीलव्रत पालन करता है वह आसानी से स्वर्ग मोक्ष की रचना करता है। उसे स्वर्ग मोक्ष पाना सरल है वह पापरूपी कीचड़ को धोता है, पुण्य का सचय करता है, जगत में उसकी महिमा फैलती है, देवों के समूहको नमस्कार कराता है अर्थात् उसे देव नमस्कार करते हैं घोर उपसर्ग को हनता है अर्थात् उसके घोर उपसर्ग दूर हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

मालिनीछन्द

हरति कुलकलङ्क लुपते पापपक् ।

सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यतामातनोति ॥

नमयति सुरवर्गं हति दुर्गोपसर्गं ।

रचयति शुचिशील स्वर्गमोक्षौ सलीलम् ॥ ३९ ॥

व्याख्या—पुनश्च शुचि निमल शील ब्रह्मव्रत कुलस्य कलङ्क मलिनता हरति नाशयति । पुन शील पापमेव पक् कदम लुपते विनष्टि । पुन शुचि निर्मल शुद्ध शील सुकृत पुण्य उपचिनोति वद्धयति । पुन श्लाघ्यता प्रशस्यता आतनोति विस्तारयति । पुन शील सुरवर्गं नमयति देवसमूह नम्रीकरोति । पुन शील दुर्गोपसर्गं रीदोपसर्गं उपद्रव हति । पुन शील कतु सलील यथास्थायी छील यैव हेलामात्रेण स्वर्गमोक्षौ रचयति ददातीत्यर्थ ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो अखण्ड शीलव्रत धारण करते हैं, उनके व्याघ्र सर्प जल अग्नि आदि वृत्त व्यापत्तिया नष्ट हो जाती हैं, ये कल्याणसे सुशोभित होते हैं, देव सन्मुख आकर नम्र होते हैं, उनकी कीर्ति

स्फुरायमान होती है, धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है, पाप नष्ट होता है और स्वर्ग तथा मोक्ष के सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ३६ ॥

पुन शीलादिह लोकेऽपि कष्टानि यातीत्याह—

आर्द्रालविक्रीडितल्लन्द

तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोपि सारगति ।

व्यालोपि श्वति पर्वतोऽप्युपलति क्षेदोऽपि पीयूषति ॥

विघ्नोऽप्युत्स्रति प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपा-

नाथोऽपि स्वगृह्यत्यटव्यपि नृणा शीलप्रभावा'दुध्रुव ॥४०॥

व्याख्या—नृणा मनुष्याणा ध्रुव निश्चित शीलप्रभावात् अग्निरपि तोयति तोयमिवाचरति जलवत् शीतल स्यात् । तथा अहिरपि सर्पोपि स्रजति स्रगिवाचरति पुष्पमाला इवाचरति पुन शीलप्रभावात्तद् व्याघ्रोऽपि सिंहोपि सारगति सारग इव हरिण इवाचरति । पुनर्व्यालोपि दुष्टगनोपि अश्वति अश्व इवाचरति तथा विषम पर्वतोपि उपलति उपल इवाचरति सामान्य-पापाण इवाचरति पुन क्षेदोपि विषमपि पीयूषति पीयूष इवाचरति अमृतमिवाचरतीत्यर्थ । विघ्नोऽप्युत्स्रति आपदपि उत्स्रति उत्स्र इवाचरति । विघ्नोऽप्युत्स्र एव भवति । तथा अरिरपि शत्रुरपि प्रियति प्रिय इवाचरति । शत्रुरपि प्रिय एव भवति । तथा अपाना-योपि समुद्रोऽपि क्रीडातडागति खेलनसरोवर इवाचरति । अटव्यपि अरण्यामपि स्वगृह्यति स्वगृहमिवाचरति । नृणा शीलप्रभावादेतानि

१ शीलप्रभावा'नृणाम् इति पाठांतरम् ।

वस्तूनि भवति ॥ ४० ॥ सुदर्शन श्रेष्ठि वक्चूलि रावणकथा वाच्या  
इति ब्रह्म प्रक्रम ।

अर्थ—मनुष्यों के शील के प्रभाव से निश्चय ही अग्नि भी  
जल रूप में परिणत हो जाती है, सप पुष्पमाला रूप हो जाता है,  
वाघ हिरण के भाव को प्राप्त हो जाता है, भयकर हस्ती घोड़े के  
भाव को प्राप्त हो जाता है महान पर्वत भी छोटे पत्थर रूप हो  
जाता है, विष अमृत में परिणत हो जाता है, विष्णुकारक पदार्थ  
वत्सव रूप में परिणमते हैं, शत्रु भी मित्र सरोवर व्यवहार करने  
लग जाता है, समुद्र भी मीठा करने का तालाब रूप हो जाता है,  
भयकर अटवी ( बनी ) अपने गृह रूप हो जाती है, ऐसा शील का  
अद्भुत माहात्म्य जान कर उसे दृढ़ता से पालन करना चाहिये,  
अनेक सज्जनों के आने पर भी सुमेरु पर्वत तुल्य अडिग रहना  
चाहिये इसी से मनुष्य जन्म की शोभा है ।

शीलव्रत के धारत कहा है—

अरुधाने अनेच्छील, शून्याकारव्रतादिकम् ।

अरुस्थाने पुनर्नष्टे, सर्वा शून्यव्रतादिकम् ॥

अर्थ—शीलव्रत १, २, ३, ४, ५ आदि अष्टों के समान है,  
और अहिंसा, सत्य आदि व्रत ००००० शून्यों के समान हैं । १,  
२, ३, ४, ५ आदि अष्टों के अभाव में ००००० शून्यों का मूल्य नहीं  
है वसी प्रकार शीलव्रत पालन पूर्वक ही व्रतों का परिपालन सफलता  
पा सूचक है । शीलव्रत रहित अहिंसादि का पालन निष्फल है ।  
महाचर्य ( शील ) का माहात्म्य देखिये—

शुचि भूमिगत तोय, शुचिर्नारी पतिव्रता ।

शुचिर्धर्मपरो राजा, ब्रह्मचारी सदा शुचि ॥

अर्थ—भूमिगत कूप का जल शुद्ध होता है, पतिव्रता स्त्री पवित्र होती है, धर्मात्मा राजा पवित्र माना गया है और ब्रह्मचारी पुरुष सदा पवित्र होता है ॥ ४० ॥

अथ परिग्रहदोषानाह—

शार्दूलत्रिकीदितल्लव्य

कालुष्य जनयन् जडस्य रचयन्धर्मद्रुमोन्मूलन  
क्विरनन्नीतिकृपाक्षमाकमलिनीं लोभाम्बुधिं वर्द्धयन् ।

मर्यादातटमृद्रुजञ्छुममनोहसप्रराम दिशन्  
किन्न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिं गतः ॥४१॥

व्याख्या—परिग्रहो धनघातयक्षेत्रगृहरूप्यसुवर्णकुप्यद्विपद  
चतु पदानां समग्रोमूर्च्छा स एव नदीपूर सरित्प्रवाहः प्रवृद्धिं गत  
उपचय प्राप्त सन् । किं क्लेशकर कष्टदायी न स्यात् अपितु  
त्यादेव । किं कुर्वन् जडस्य परिग्रहसग्रहं कर्तुं मूर्खजनस्य कालुष्य  
क्विराध्ययसायत्व जनयन् उत्पादयन् अन्योपि नदीपूरोपि प्रवृद्ध  
सन् जलस्य पानीयस्य कालुष्य अविलस्य जनयति । डलयोरेक्य  
जडस्य जलस्य । पुन किं कुर्वन् धर्म एव द्रुमो वृक्ष तस्योन्मूलन  
उत्पादनं रचयन् कुर्वन् अन्योपि नदीपूर प्रवृद्धोवृक्षाणां उत्पादन  
करोति । पुन किं कुर्वन् नीतिकृपाक्षमाकमलिनी नीतिर्याय कृपा



दया क्षमा क्षाति ता एव कमलि-य ता किलरयन् पीडयन् अ-योपि नदीपूर कमलिनी पीडयति । पुन किं कुर्वन् लोभाबुधिं वद्धयन् लोभ एव अभ्युधिं समुद्रस्त वद्धयन् वृद्धिं नयन् । “जहालाहो तदा लोहो” इति । पुन किं कुर्वन् धर्मस्य मर्यादा एव तटं चरणविधिरूप तटं चद्रुजन् पीडयन् भञ्जयन् । अ योपि नदीपूर प्रवृद्ध सन् तटं पातयति । पुन किं कुर्वन् शुभमनोहमप्रयास दिशन् । शुभ धर्मध्यान सहित य-मनातदेव हसस्तस्य प्रयास परदेशगमन दिशन् आदिशन् । अ-योपि नदीपूरो हसान् उड्डापयति ( उल्लापयति ) ईदृशो मूर्च्छा परिग्रह क्लेशकर स्यात् ॥ ४१ ॥

अथ—इस पद्यमें परिग्रह का वर्णन किया है कि परिग्रह कैसा अनर्थकारक है—इदय की कलुषता को पैदा करता हुआ, अज्ञानता को रचता हुआ, धर्म रूपी वृक्ष को चराइता हुआ, नीति दया क्षमा रूपी कमलिनी को क्लेश पहुँचाता हुआ, लोभरूपी समुद्र को बढ़ाता हुआ, मर्यादा रूप तट को उल्लाड़ता हुआ, शुभ मन रूप हस को परदेश गमन कराता हुआ परिग्रह रूपी गद्दी का प्रवाह धुद्धि को प्राप्त हुआ क्या क्या अनर्थ नहीं करता कि तु सारे ही अनर्थों का मूल कारण है । इसप्रकार परिग्रह को बुरा ज्ञान उसका परिमाण करना योग्य है । अर्थात् लोभ कषाय को रोकनेके लिये परिग्रह की मर्यादा वाचना चाहिये ।

भूयोपि परिग्रहदोषानाह—

मालिनीवृन्द

कलहकलमविन्ध्यं क्रोधगृधरमञ्जान ।

व्यसनमुजगरन्ध्रं द्वेपदस्युप्रदोषं ॥

सुकृतवनदग्निर्माद्वाम्भोदनायु ।

नपनलिनतुपारोऽत्यर्थमर्थानुराग ॥४१॥

व्याख्या—अत्यर्थ अर्थानुराग परिग्रहो परिमूर्च्छा राग ईदृशोऽस्ति । कथंभूत कलह एव कलमो बालहस्ती तस्य विंध्यो विंध्याचल यथा विंध्याचले कलम क्रीडति तथा अत्यर्थं अर्थानुरागे द्रव्यरागे कलहो भवति । तथा क्रोधगृध्ररमशान क्रोध एव गृध्र पक्षिविशेषस्तस्य रमशान प्रेनवन, यथा गृध्र रमशाने रमते तथा क्रोध । पुन व्यसनभुजगरत्र व्यसनमेव कष्टमेव भुजग सर्पस्तस्य त्रिल । पुनर्द्वेपदशुप्रदोष द्वेप एव दशुश्चौरस्तस्य प्रदोष सध्यासमय । प्रदोषे चौराणां घल भवति तथा सुकृतवनदग्निः सुकृत एव पुण्यमेव यन तस्य द्वाग्नि दावानल । पुनर्माद्वाम्भोदनायु, माद्वाम्भोदनायु कोमलत्व तदेव अमोदो मेघस्तत्र वायु । पुननयनलिनतुपार - नयो - याय एव नलिन कमल तत्र तुपारो हिम । अत्यर्थं द्रव्यानुरागो लोभो ईदृशोऽस्ति । अतो न कर्तव्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—पदार्थों में अतिशय अनुराग मत्पुरुषों द्वारा त्यागने योग्य है । क्यों कि अधिक अनुराग ही परिग्रह है, अधिक ममता से निकृष्ट कर्मों का बन्ध होता है, उसी का वर्णन किया जाता है — कलह ( लड़ाई ) रूप जो हाथी का बच्चा उसके निवास के लिये विंध्याचल पर्वत के तुल्य है अर्थात् परिग्रह ही कलह का कारण है, इसी के कारण भाई भाई का शत्रु बन जाता है, क्रोध रूपी गृध्र पक्षी के निवास का स्थान-रमशान के समान है अर्थात् परिग्रह के कारण ही क्रोध उत्पन्न होता है । सात व्यसन रूपी सर्प के बिल के समान हैं, द्वेप रूप चोर को रात्रि के समान

आत्मा तो सम्पूर्ण विभव को छोड़ कर परभव को चला जाता है तो फिर मैं व्यर्थ ही अनेक घोर पापों को क्यों करता हूँ ? ऐसा कभी भी विचार नहीं करता है ।

मायार्थ—अगर ससार का समस्त धन भी इसे प्राप्त हो जाय तो भी कभी यह मोही प्राणी सन्तोष धारण नहीं करता । तथा यह जगत का वैभव कभी साथ भी नहीं जाता सब यहीं पर पड़ा रह जाता है तो मैं क्यों पापोपाजन करूँ ? जिससे नरक तिर्यञ्च आदि की भयंकर घोर वेदनाओंका सामना करना पड़े ऐसा कभी विचार विमर्श नहीं करता ॥ ४४ ॥

तत्र नदराजाकथा ।

अथ क्रोधनयार्थ—मुपदेशमाह—

शादूलविक्रीडितद्रव

यो मित्र मधुनो विकारकरणे सत्राससपादने ।  
 सर्पस्य प्रतिबिम्बमद्गदहने, सप्तार्चिष' मोदर' ॥  
 चैतन्यस्य निपूदने निपतरो, सत्रक्षचारी चिर ।  
 स क्रोध कुशलामिलापदुश्लै' निर्मूलमुन्मूल्यतां ॥४५॥

व्याख्या—आत्मन श्रेयोवाङ्माचतुरैर्नरैः स क्रोध' कोपो निर्मूल' समूल यथा श्याम् तथा उन्मूल्यता वच्छिद्यता स क य क्रोध विकारकरणे चित्तादिविकारविधाने मधुनो मधस्य मित्र सुहृत् । पुनर्यं क्रोध सत्राससपादने मयजनने सपस्य प्रतिबिम्बं सर्पसदृश । पुनर्यं क्रोध अगदहने शरीरप्रज्वालने सप्तार्चिजपोऽग्ने

सोदरोऽग्नेर्ध्राता । पुन य क्रोध चैतनस्य ज्ञानस्य निपूदने विना-  
सहभोगीशने विपतरो विपवृक्षस्य चिरमतिशयेन सन्नद्धचारी  
सहपाठी ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो क्रोध चित्त को विवृत्त करने में मद्य का मित्र  
है अर्थात् शराजैसा विकारी है [ क्रोध के कारण विवेक नष्ट हो  
जाता है ] मद्य के वत्पन करने में सर्प तुल्य है, शरीर को जलाने  
में अग्नि के समान है अर्थात् क्रोध के आवेश में आकर प्राणी अग्नि  
समान जावृक्ष्यमान होने लगता है, चैतन ( आत्मा ) के जीधन  
को नष्ट करने में विपवृक्ष का चिरकाल साथी है अर्थात् विपवृक्ष के  
समान है । आत्मा का हित चाहने वाले चतुर पुरुषों द्वारा वह क्रोध  
जइसे बत्ताव दिया जाना चाहिये ।

भाषा—आत्मकल्याण के इच्छुक पुरुषों को चाहिये कि  
ऐसा क्रोध कभी न करें जिससे हेयोपादेय रहित बुद्धि हो जाय अत  
क्रोध का सर्वथा त्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥ ४५ ॥

हरिणीश्रुद

फलति कलितश्रेयःश्रेणीप्रसूनपरम्परः ।

प्रशमयसा सिक्तो मुक्तिं तपश्चरणद्रुमः ॥

यदि पुनरसौ प्रत्यासत्तिं प्रकोपहविर्भुजो ।

भनति लभते भस्मीमात्र तदा निफलोदयः ॥ ४६ ॥

व्याख्या—तपश्चारित्ररूपएव द्रुमो वृक्ष मुक्ति मोक्ष फलति  
निष्पादयति । कथभूत कलितश्रेयः श्रेणीप्रसूनपरम्पर कळिता

सत्पादिता श्रेयसा पुण्याना कल्याणाना वा श्रेणि राजिरेव प्रसू-  
नाना पुष्पाणा परम्परा पत्तिर्येन स । पुन कथभूत प्रशम एव  
चपशम एव पयो जला तेन सिद्ध सेक प्रापित । यदि पुन पर तु असौ  
तपरचरणद्रुम प्रकोपद्विमुञ्ज क्रोधवह्ने प्रत्यासत्ति सामीप्य भजति  
आश्रयति तदा भस्मीभाष्य भस्मरूपता लभते प्राप्नोति । कथभूत  
विकलोदय त्रिगत कलस्योदयो यस्य कलोदयरहित ॥ ४६ ॥

अथ—शांत परिणाम रूपी जल स सींचा हुआ तपश्चर-  
णरूपी वृक्ष अनेक पुण्य समूह रूप पुष्पों की पत्तियों से सुशोभित  
होता हुआ मोक्ष रूपी फल को फलना है ( मोक्षफल को देता है )  
यदि वह तप रूपी वृक्ष क्रोध रूपी अग्नि की निरुद्धता को प्राप्त हो  
तो फिर बिना फल दिये ही दग्ध हो जाता है ।

भाषाय—मुक्तिरूपी फल को देनेवाला तप रूपी वृक्ष है ।  
अगर क्रोध-अग्नि का सेवन हो जाय तो वह तपवृक्ष भस्म हो जाय  
अतः क्रोध का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है ॥ ४६ ॥

पुन क्रोधदोषानाह—

शार्दूलविनीहितछन्द

सताप तनुते भिनशि विनय सौहार्दमुत्मादय—

त्युद्देग अनयत्यवद्यवचन मृते रिधत्ते कलिं ॥

कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं पितरति, व्याहति पुण्योदय ।

दत्तोय कुमतिं न हातुमुचितो, रोष सदोष सतां ॥ ४७ ॥

व्याख्या—स रोष क्रोध सता सत्पुरुषाणा हातु त्यक्तु

चचितो योग्योऽस्ति । कथंभूत रोप सशेष अनेकशेषै सहित ।  
 स क यो रोप सताप चित्तोद्वेग तनुते विस्तारयति । पुनर्यो रोपो  
 विनय विनयगुण भिनत्ति विदारयति विनाशयति । पुनर्यो रोप  
 सौहाद्रं मित्रभाव उत्सादयति विनाशयति । पुनर्यं उद्वेग उत्पन्न-  
 दन जनयति । पुनर्यं अग्रग्रचन असत्यवचन सूते उत्पादयति ।  
 पुनर्यं कल्लि कलह विधत्ते करोति । पुनर्योरोप कीर्तिं यश कीर्तिं  
 कृतंति क्षिनत्ति । पुनर्योदुर्मतिं दुष्पुद्भि वितरति-दत्ते । पुनर्यं पुण्यो-  
 दय धर्मस्थ वदय व्याहति विनाशयति । पुनर्यं कुगति नरकतिर्य-  
 गति दत्ते ददाति । स रोप सता हातुमुचित ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो प्रोध मन्ताप को बढ़ाता है विनय को नष्ट करता  
 है, मित्रता को उखाड़ देता है अर्थात् जिससे मित्रता नष्ट हो जाती  
 है, उद्वेग को उत्पन्न करता है, निन्हा वचन को उत्पन्न करता है,  
 कलह करता है, कीर्ति को काट डालता है अर्थात् नष्ट कर देता है,  
 कुपुद्भि पैदा करता है, पुण्य के बन्ध को नष्ट कर देता है कुगति को देता  
 है अर्थात् मर कर प्राणी कुगति में जाता है ऐसा अनेक दोषोंको उत्पन्न  
 करने वाला यह क्रोध मञ्जन पुर्यों द्वारा त्याग करने योग्य है ॥४७॥

शादूँलविकीर्तितल्लन्द

यो धर्मं दहति द्रुम दग्ग इमोन्मथ्नाति नीतिं लता ।  
 दतीवेन्दुकला त्रिभुतुद इम विलशनाति कीर्तिं नृणा ॥  
 स्वार्थं वापुर्विवाभ्युदं विघटयत्युल्लामयत्यापदं ।  
 वृष्णा धर्मं इमोचितं कृतकृपालोप, म कोप कथ ॥४८॥

व्याख्या—यो धम दहति स कोप क्रोध कथं केनोपायेनोचित योग्य स्यात् अपि तु न कथमप्युचित । स कं य कोपो धर्म श्रेयो दहति भस्मीकरोति । कं मिमिव दत्तो दावानलो द्रुममिव यथा दावा नलो द्रुमवृक्ष दहति । पुनर्यो नीति-याय च मथ्नाति च मूलयति कं कामिव दत्तो हस्ती लतामिव यथा हस्ती लतामु-मूलयति । नृणा मनुष्याणां कीर्तिं क्लिश्ननातिपीडयति गमयति । कं कामिव विधु तुदो राहुरिदुक्ला चन्द्रलेखामिव । पुनर्यो रोष स्वार्थं विघटयति । स्फोटयति कं पमिव वायुरधुदमिव यथा वायुर्मेघं विघटयति पुनर्ये आपदं कष्टं उत्प्लसयति । विस्तारयति कं कामिव पद्मं ग्रीष्मं कृष्णामिव । यथा तपःकृष्णा कृपां वृद्धयति । पुन कथंभूत कोप कृष्णपालोप कृतं विहितं कृपाया दयाया लोपो विनाशो येन स ॥४८॥

### इति क्रोधप्रश्नः

अर्थ—जो क्रोध वृक्ष को दावानल अग्नि के समान मनुष्यों के धर्म को जला देता है, लता को हाथी के समान नीति को चटका देता है, चन्द्रमा की कला को राहु के समान कीर्ति को मलिन कर देता है मेघ को पवन के समान स्वाध को नष्ट कर देता है, प्यास को धूप के समान आपत्तियों को बढ़ाता है और जिस क्रोध के कारण दयाभाव का सर्वथा लोप हो जाता है । ऐसा वह क्रोध करना किस प्रकार उचित है अर्थात् नहीं करना चाहिये । क्योंकि क्रोध महान अनर्थ करता है । इसका त्याग करना ही उचित है ॥ ४८ ॥

अथ मानस्य दोषानाह—

मन्दाक्रान्ता छन्दः

यस्मादाविर्भवति विततिर्दुस्तरापन्नदीना,  
यस्मिन् शिष्टाभिरुचितगुणग्रामनामापि नास्ति ।

यश्च व्याप्तं वहति वधधी धूम्यया क्रोधदाय,  
त मानाद्रिं परिहर दुरारोहमोचित्यवृत्तेः ॥४९॥

व्याख्या—भो मध्यप्राणिन् । औचित्यवृत्ते उचिताचार  
करणानि तद्योग्यविनयविधानात् त मानाद्रि मान अहकार एव  
अद्रिस्त अहकारपर्वत परिहर त्यज मुञ्च । त क यस्मात् मानाद्रे  
दुस्तरा तरीतु अशक्या आपन्नदीना कष्टारूपनदीना वितति श्रेणि-  
राविभवति प्रकटीभवति । अन्यस्मादप्यद्रेर्नदीना वितति प्रादु-  
र्भवति । यथा यस्मिन् मानाद्रौ शिष्टाभि रुचितगुणग्रामनामापि नास्ति ।  
शिष्टाना उत्तमाना अभिरुचिता प्रीतिदायिनो ये गुणा ज्ञानादय  
औदार्यादयो वा तेषा ग्राम समूहस्तस्य नामापि नास्ति गुणाना लब्ध  
लेशोपि न । पुनर्यो मानाद्रि क्रोधदायानल वहति धने । कथभूत  
क्रोधदाय वधधी धूम्यया व्याप्त । हिंसाजुद्धिधूमसमूहेनालीढं । पुन  
कथंभूत दुरारोह आरोहुमशक्य अथवा औचित्यवृत्ते योग्यताया  
दुरारोह ॥४९॥

अर्थ—जिस ( मानरूपाय ) से अहकार रूपी पर्वत से  
कठिनता से पार करने योग्य आपत्तिरूपी नदियों का समूह निकलता  
है अर्थात् मान के कारण ही अनेक आपत्तियाँ सिर पर आती हैं, जिस  
मानरूपी पर्वत में सज्जन पुरुषों द्वारा प्रहरण करने योग्य गुण रूपी-



ग्राम का नाम भी नहीं है अर्थात् अहंकार के कारण मनुष्य के सब गुण नष्ट हो जाते हैं, और जो मान हिंसा बुद्धिरूपी धूम से चारों तरफ फैल कर क्रोधरूपी अग्नि को धारण करता है। ( मान के कारण जीवों की हिंसक बुद्धि तथा क्रोधाग्नि जावबल्यमान हो जाती है ) ऐसे इस कठिनता से पार करने योग्य मानरूपी पर्यंत को उचित पार्यों से, सदाचरण से त्याग देना चाहिये ॥ ४६ ॥

भूयोमानदोषानाह —

शिस्रिणी छन्द

शमालान भञ्जन्निमलमतिनाडी विघटयन्,  
किरन्दुर्वाक्पाशूत्करमगणयन्नागमसृणिम् ।

भ्रमन्तुर्व्याँ स्वैर विनयनरीथीं विदलयन् ।

जन' किं नानर्थं जनयति मदांधो द्विप इव ॥५०॥

व्याख्या—मदांधो जन किमनर्थं न जनयति मदेन अहं-  
कारेण अंधो गतेक्षणो जन क व अनर्थं न जनयति मोत्यादयति  
अपि तु सर्वं अनर्थं जनयति क इव द्विप इव मत्तगज इव यथा मदा-  
ंधो द्विपो अनर्थ उपद्रव जनयति । किं कुर्वन् शमालान भजन् शम  
एव उपशम एव आलान गजयचनस्तम्भ भजन् उमूलयन् । पुन किं  
कुर्वन् निमलमतिनाडीं निमलबुद्धि एव नाडी वधनरञ्जुता विघटयन्  
प्रोटयन् । पुन किं कुर्वन् दुर्वाक्पाशूत्कर दुर्वागेज दुवचनमेव पाशु  
धूलिस्तस्यां उत्कर समूह किरन् विक्षपन् । पुन आगम एव सिद्धात  
एव सृणि' अकुशस्त अवगच्छयन् अविचारयन् । पुनर्विनयनयवीथीं

विनय एव तयवीथी न्यायश्रेणिस्ता त्रिदलयन् विश्वसयन् अन्योपि  
मदायो हस्ती यत्तानि वस्तूनि करोति ॥ ५० ॥

अर्थ—मदान्ध पुरुष की चेष्टा का वर्णन करते हुये आचार्य  
कहते हैं कि—मान कपाय कैसी है—समता भाव रूपी बन्धन के  
सम्भे को उखाड़ता हुआ, निर्मल बुद्धिरूपी साकल को तोड़ता हुआ,  
दुर्वचन रूपी धूल के समूह को बखेरता हुआ, आगमरूपी अकुश को  
नहीं गिनता हुआ पृथ्वीतल में इच्छानुसार भ्रमण करता हुआ,  
विनय रूपी पाग की गली को दलमलीन करता ( कुचलता ) हुआ  
अहंकार से अन्धा पुरुष मदोन्मत्त हाथी के समान क्या क्या अनर्थ  
नहीं करता ? किन्तु सभी प्रकार के अनर्थ कर डालता है अतः मान  
कपाय को त्याग कर मार्दव धर्म धारण करना योग्य है ॥ ५० ॥

पुनराह—

शादूलविक्रीडितञ्च

औचित्याचरण विलुपति पयोराह नमस्त्वानि ।  
प्रध्वस निनय नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम् ॥  
कीर्तिं कैरविणीं मतङ्गज इव प्रोन्मूलयत्यंजसा ।  
मानो नीच इवोपकारनिकर हन्ति त्रिवर्गं नृणा ॥५१॥

व्याख्या—मानोऽहंकारो नृणा पु सा त्रिवर्गं धर्मार्थकाम-  
रूप हति नाशयति क कमिव नीचोऽमनुष्य उपकारनिकरमिव यया  
नीच उपकारसमूह हति तथा । पुन मान औचित्याचरण योग्याचार  
विलम्पति स्फोटयति क कमिव नमस्थान् वायु पयोवाहमिव । पुन-

मीन प्राणस्पृशा प्राणिना विनय अभ्युत्थानादिक प्रध्वंस क्षयं  
नयति क कमिव अहि सर्पो जीवितमिव यथा सर्पो जीवित क्षय  
नयति । पुनरजसा वेगेन कीर्तिं प्रोमूलयति क कामिव मत्तगनो  
हस्ती कैरविणीं कमलिनीं प्रोमूलयति तद्वन् ॥ ५१ ॥

अर्थ—तीव्र पवन जैसे बादलों को नष्ट कर देता है अर्थात्  
वायु के वेग से जिस प्रकार सब बादल विघट जाते हैं वसी प्रकार  
मान कपाय के कारण मनुष्य का उचित आचार विचार नष्ट हो जाता  
है, जीवों के जीवन को जैसे साप नष्ट कर देता है वैसे ही मान  
विनयगुण को नष्ट कर देता है ( अहकारी के विनय भाव कदापि  
नहीं होता ) कमलिनी को जैसे हाथी चलाह डालता है वैसे कीर्ति  
को क्षीय ही नष्ट कर देता है—मान के कारण कीर्ति नष्ट हो जाती  
है और उपकारी के उपकार को जैसे नीच पुरुष नष्ट कर देता है ।  
अर्थात् किये हुये उपकार को भूलकर नीच मनुष्य उपकार करने  
वाले का अहित कर डालता है वसी प्रकार मान कपाय मनुष्यों के  
धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पदार्थों ( पुरुषार्थों ) का नाश कर देता  
है ॥ ५१ ॥

भूयश्चाह—

वसन्ततिलकाब्जद

मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थं ।

सजीवन विनयजीवितमङ्गमाजा ॥

जात्यादिमानविपज विषम निकार ।

त मार्दवामृतरसेन नयस्व शातिम् ॥ ५२ ॥

व्याख्या—यो मानोऽहमाजा प्राणिना विनयनीवित विनय-  
गुणरूपजीवितमुच्छतिश्चिच्छिनत्ति । कथंभूत विनयजीवितकृतसमस्त-  
समीहितार्थं सजीवन कृत समन्ताना समीहिताना वाञ्छितार्थाना  
सजीवन येन तन् ॥ जात्यादिमानविपन्न जातिलाभकुलैश्वर्यमलरूप-  
तपश्रुताना मानोऽहकार एव विप सत्मात्समुद्भव उत्पन्न विपम  
घोर विकार मार्दवामृतसरसेन मृदुतासुधारमेन शान्तिं उपशम नयस्व  
प्रापय ॥ ५२ ॥ मानत्यागे घाटुर्गलितप्राप्त —

इति मानप्रक्रम ।

अर्थ—जो मान प्राणियों के सम्पूर्ण वाञ्छितार्थरूप तथा  
सजीवन औपधि स्वरूप विनय को चुरा लेता है अर्थात् मान  
( अहकार ) के सद्भाव में पूज्य पुरुषों के प्रति आदर सत्कार की  
भावना रूप विनय गुण सर्वथा नष्ट हो जाता है अतः उस जात्यादि  
आठ प्रकार ( जातिमद, कुलमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद, शरीर-  
मद ज्ञानमद, ऐश्वर्यमद ) के मद रूप विप से उत्पन्न हुये विपम  
विकार अर्थात् रोग को मार्दव धर्म ( कोमल परिणाम ) रूप अमृत  
पान से शान्त करो । मान रूपी रोग को मार्दवामृत से शान्त करना  
चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ मायात्यागमाह—

मालिनीछन्दः

कुशलजननवन्ध्या सत्यसूर्यास्तसन्ध्या ।

दुर्गतिपुवतिमाला मोहमातंगशालाम् ॥

रामकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं ।

व्यसनशतसहाया दूरतो मुञ्च मायाम् ॥५३॥

व्याख्या—मो मन्व्यजन ! माया कपट दूरतो मुञ्च त्यज ।  
 कथभूता माया कुशलस्य चेमस्य जनने उत्पादने यध्या यध्यास्त्रीरूपा  
 पुन सत्यमेव सूर्यस्तस्यास्तमनाय सध्या ता । पुन कथभूता कुगतिरेव  
 युनतिस्तस्या वरणमाला ता । पुन मोह एव मातगतस्यशाला  
 यधनस्थानम् ता । पुन किंभूता शम एव उपशम एव कमलानि  
 तेषा हिमानी हिमसहति ता । पुन किंभूता दुर्यश अपकीर्ति तस्य  
 राजधानी निवासनगरी ता । पुन किंभूता व्यसनाना कष्टाना  
 क्षतानि सहाया यस्या सा ता इदृशी माया दूरतो मुञ्च  
 त्यज ॥ ५३ ॥

अर्थ—इस पद्य में मायाचारी के त्याग का उपदेश है यह  
 माया कैसी है—कल्याण के उत्पन्न करने में यध्या स्त्री के समान है  
 ( मायावी व्यक्ति के कभी भी कल्याण की भावना उत्पन्न नहीं हो  
 सकती ), सत्य वचन रूपी सूर्य के अस्त होने के लिये सध्या  
 के समान है, मोह रूपी हाथी के लिये शाला के समान है, समता भाव  
 रूपी कमलों को नाश करने के लिये तुषार [ पाला ] समान है,  
 अपकीर्तिकी राजधानी है, सैकड़ों व्यसनों को उत्पन्न करने में  
 सहायक है ऐसी माया कपाय को दूर ही से त्याग देना  
 चाहिये ॥ ५३ ॥



पुनराह—

उपेन्द्रवज्राद्यन्द

विधाय माया विविधैरुपायैः ।

परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ॥

ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्ग—

सुप्तान्महामोहमग्ना स्वमेव ॥५४॥

व्याख्या—ये जना विविधैर्नानाप्रकारैरुपायै माया कपट विधाय कृत्वा परस्य अन्यजनस्य वञ्चन आचरन्ति कुर्वन्ति ते जना महामोहसत्त्वा महदज्ञानयुक्ता सन्त त्रिदिवापवर्गसुप्तान् देवलोक-मोक्षसुप्तान् स्वमेवात्मानमेव वञ्चयन्ति विप्रतारयन्ति त्याज-यन्ति ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो लोग अनेक प्रकार से मायाचारी ( जालसाजी ) करके दूसरे लोगों को ठगते हैं, अथवा प्रतिपादन करके मिथ्या-मार्ग में लगाते हैं वे महामोह के मित्र ( मोह कर्म के वश होकर ) स्वर्ग और मोक्ष के सुप्त से अपने आपको वञ्चित करते हैं ।

भाषार्थ—निष्कपट परिणाम सरीखी अन्य सत्यता ससार में प्रशंसा के योग्य नहीं है और मायाचारी जैसी अन्य अमत्यता निंदा के योग्य नहीं है । कपटी पुरुष के व्रतों का पालन करना, कठिन तपश्चर्या आदि करना सर्व निष्फल है । जो मायावी दूसरों को अपने वाग्जाल में फँसा कर हर्ष मानते हैं वे स्वयं मायाचारी परिणामों से निवृत्त बच कर अपने आत्माको नर्क गर्त में पतन कराते हैं । इसलिए मायाचार रूप परिणामों के त्याग बिना इस लोक में,

परलोक में जीवोंको सुख शांति प्राप्त नहीं हो सकती ॥ ५४ ॥

पुनर्मायादोषमाह—

वशस्थब्द

मायामग्निरासविलासमन्दिर ।

दुराशयो य दुरुते घनाशया ॥

सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते ।

यथा विडालो लघुद पयः पिबन् ॥५५॥

व्याख्या—यो दुराशयो दुष्टचित्तो जनो घनाशया द्रव्यस्य  
वाद्यया लोभेन माया कपट कुरुते विदधाति न जन आत्मनोऽनर्थं  
सार्थं कष्टसमूह पतन्त आगच्छन्त नेक्षते नालोकते । कथं यथा विडालो  
मार्जारं पयो दुग्धं पिबन् सन् लघुद दण्डप्रहार नेक्षते नालोकते ।  
कथंभूता माया अविश्वासस्य अप्रतीते विलासमार्गं दूरं क्रीडागृहं मदिरा  
शब्दाय अनर्हल्लगत्वात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो दुष्ट अभिप्राय [ परिणाम ] वाला पुरुष घन की  
इच्छा से अविश्वास के क्रीडा स्थान रूपी मायाचारी को करता है  
वह अपने ऊपर आई विपत्तियों को नहीं देखता है । जिस प्रकार  
दूध की पीठा हुआ बिलाव ऊपर से अपने ऊपर पड़ती हुई लकड़ी  
को नहीं देखता है । खेद है कि मायाचारी दूसरों का अनिष्ट सोचता  
है परन्तु उस मायाचारी से स्वयं अपना अहित-अनिष्ट हो जाता है  
इससे वह जरा भी नहीं डरता है ॥५५॥

पुनराह—

वसन्ततिलकाद्यद

सुगन्धप्रतारणपरायणमुज्जहीते ।

यत्पाटव कपटलपटचिचवृत्ते ॥

जीर्यत्युपप्लवमवश्यमिहाप्यकृत्वा ।

नापच्यभोजनमिगमयमायतौ तत् ॥५६॥

व्याख्या—कपटे मायाया लपटा बाधायुक्ता चित्तवृत्तिमनो-  
व्यापारो यस्य न तस्य पुरुषस्य यत्पाटव चातुर्यं सञ्जिहीते उल्लसति  
तत्पाटव<sup>१</sup> अवश्य निश्चयेन आयतौ आगामिकाले उपप्लव उपद्रव  
अदृश्या अविधाय न जीर्यति न परिणाम याति । किंतु तस्य विपाको  
मध्यमेव किमिव अपच्यभोजन आमयमिव यथा अपच्य भोजन  
जैमन आमय रोग अकृत्वा आयतौ न जीर्यति न याति । कथंभूत  
पाटव सुगन्धा मूर्त्ताणा प्रतारणे गच्छने परायण तत्पर ॥ ५६ ॥ अत्र  
मल्लिनाथजीव महानल दृष्टात आपादभूत दृष्टातश्च ।

इति मायाप्रक्रम

अर्थ—सदा कपट करने में तत्पर चिच रखने वाले पुरुष  
की भोले पुरुषों को ठगने में जो चतुरता उल्लासमान होती है वह  
कपट चतुरता अवश्य ही फल देने के काल में जैसे अपच्य भोजन  
रोग उत्पन्न किये बिना नहीं रहता—उसी तरह कपट प्रवृत्ति भी लोक में  
बिना कुछ उपद्रव कष्ट दिए गिना नहीं रहती है । तात्पर्य यह है कि  
जैसे अपच्य भोजन करने से रोग अवश्य ही उत्पन्न होता है उसी  
प्रकार कपट पुरुष दूसरों को ठग कर भले ही कुछ काल तक



आनन्द मनावे, हृषित हो पर अन्तमें मायाचारी का फल इस लोक में तो उन्हें भोगना ही पड़ता है और परलोक में भी मर कर दुर्गति के दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं। यह एक अटल सिद्धांत है कि "यत्करोति तदवश्यमेव भुञ्जे" जो जीव जैसा कर्मोपाजन करता है उसका अवश्य ही उसे फल भोगना पड़ता है ॥ ५६ ॥

अथ लोभत्यागोपदेशमाह—

शादूलविक्रीडितछन्द

यद्वदुर्गामटनीमटन्ति विकट कामन्ति देशान्तर ।

गाहन्ते गहन समुद्रमतनुक्लेशां कृपिं कुर्वते ॥

सेयन्ते कृपण पतिं गजघटासघट्टदु सचरं ।

सर्पन्ति प्रघन घनान्निवतत्रिपस्तन्लोभविस्फूर्जित ॥५७॥

व्याख्या—घनेन विस्तेन अधिता अधप्राया कृता धीर्मुर्द्धिर्येषां ते ईदृशा पुरुषा यत् दुर्गा विपमा अटवीमरण्य अटति भ्राम्यति । पुनयत् विकट विस्तीर्ण देशान्तर कामति भ्रमन्ति । पुनयत् गहन दुरवगाह समुद्र गाहन्ते वल्लघयति । पुनयत् अतनुक्लेशां बहुकष्ट साध्या कृपिकर्षण क्षेत्रादि कुर्वते विधत्ते । पुनयत् कृपण अदातार पतिं स्वामिन सेवते । पुनयत् राजघटानां हस्तिसमूहानां सघट्टनेन दुःसचर गतुमशक्य प्रघन युद्ध प्रतिसपति गच्छति तत् सद्य लोभस्य विस्फूर्जितं चेष्टित जानीहि । लोभवशादेवानि वस्तूनि कुर्वति अतः कारणात् लोभस्त्याज्य एव ॥ ५७ ॥

अर्थ—धनके कारण से अब हुई बुद्धि होने के कारण से ही पुरुष गहन अट्टो में भ्रमण करते हैं । विदेश में गमन करते हैं, गहरे समुद्र का अग्रगहन करते हैं, अधिक क्लेश वाली खेती करते हैं, कजूस स्वामी की सेवा करते हैं और अनेक हाथियों के सघट्ट होने से चलता है कठिन जहा पर ऐसे युद्ध में जाते हैं यह लोभ का ही तो माहात्म्य है । लोभ के बशीभूत होकर मनुष्य क्या २ पाप नहीं करता ? किंतु सभी पाप कर बैठता है क्योंकि लोभ ही समस्त पापों का राजा है अतः लोभ का त्याग करना ही उचित है ॥ ५७ ॥

पुनराह—

शादू लघिक्रीडितछन्द

मूल मोहविपद्रुमस्य सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भरः ।

क्रोधाग्नेररणि प्रतापतरणिप्रच्छादने तोयदः ॥

क्रीडासमकलेर्विवेकशरिणः स्वर्मानुरापन्नदी-

सिंधुः कीर्तिलताकलापकलमो लोभः पराभूयता ॥५८॥

व्याख्या—मो भूया । लोभ पराभूयता निराक्रियता स्व-  
व्यतो मोह एव अज्ञानमेव विपद्रुमो विषतरुस्तस्य मूल जटारूप मूल  
शब्दस्याऽजहल्लिगत्वा । पुन कयमूतो लोभ सुकृतमेव पुण्यमेवा-  
म्भोराशि समुद्रस्तस्य शोषणे कुमोद्भवोऽगस्तिरिव । पुन क्रोधाग्ने  
वरणि क्रोध एव अग्निस्तस्य अरणी काष्ठ उत्पत्तिस्थान । पुन प्रताप  
एव तरणि सूर्य तस्याच्छादने तोयशो मेघोभ्र । पुन फले फलहस्य

क्रीडासदृश लीलागृह । पुनर्विवेक एव पुण्यापुण्यविचार एव शशी  
चन्द्रस्तस्य स्वर्भानु राहु । पुन आप नदीसिंधु आपद् कष्टायेव  
नद्यस्तामा सिंधु समुद्रस्तासा स्थानरूपत्वात् । पुन किं कीर्तिरेव  
तता वल्ली तस्या कलाप समूहस्तस्य विनाशो कलभो हस्ति शाव  
ईदृशो लोमो जीयता ॥ ५८ ॥

अर्थ—वैसा है लोम—मोहरूप विपवृक्ष का मूल है पुण्य-  
रूपी समुद्र को शोषण करने के लिये अगस्त्य ऋषि समान है  
[ ऐसी एक किंवदन्ती है कि अगुप्त प्रमाण अगस्त्य ऋषि ने सारा  
सागर का जल पी लिया था ] अर्थात् अति लोम के कारण पाप  
बन्ध होने से पुण्य का क्षय हो जाता है पुण्य का अनुभाग सर्वथा  
हीन हो जाता है, क्रोध रूपी अग्नि को बढ़ाने के लिये अरिण्यकी  
लकड़ी है, प्रताप रूपी सूर्य को ढरुने के लिये मेघों के समान है,  
कलह के क्रीडा करने का स्थान है विवेक रूपी चन्द्रमा के लिये राहु  
समान है, अनेक आपत्ति रूपी नदियों का समुद्र है, तथा कीर्ति रूपी  
लता समूह को उखाड़ने के लिए हाथी के बच्चे के समान है अर्थात्  
मनुष्य की कीर्ति पर कालिमा लग जाती है ऐसा अनेक अन्तर्गो का  
मूलभूत एक लोम ही है अतः उसका तिरस्कार करना चाहिए  
अर्थात् उस लोम का त्याग कर देना चाहिए ॥ ५८ ॥

पुनराह—

वसन्तविलका छ द

नि शेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे ।

दु खौवमस्मनि निसर्पदकीर्तिधूमे ॥

षाढ धनेन्धनममागमदीप्यमाने ।

लोभानले शलभतां लयते गुणीधः ॥५९॥

व्याख्या—लोभ एवानलोऽग्नि तस्मिन् लोभानले गुणीधो  
क्षानादिगुणाना ओष समूहः शलभता पतगत्वा लयते पतङ्ग-  
वन्नलति । कथभूते लोभानले नि शेष समस्त यद् धर्म एव वन तस्य  
दाहेन निहृ ममाण विस्तार प्राप्नुवत् तस्मिन् । पुन कथभूते  
दु खाना ओष समूह एव भस्म रक्षा यत्र स तस्मिन् । पुन कथभूते  
विमर्षत् प्रसरदपकीर्ति एव घूमो यस्मान् स तस्मिन् । पुन कथभूते  
षाढ अतिशयेन घनायेव द्रव्याण्येधनानि एवासि तेषा समागमेन  
आगमेन दीप्यमानोऽयं त प्रव्रलत् वृद्धिप्राप्नुवत् तस्मिन् । सर्वो-  
गुणा पतगवत् भयति सतोपेण लोभो निनार्य स्यात् ॥ ५९ ॥

अर्थ—समस्त धर्म रूपी वन को जलाने वाली अग्नि की  
वृद्धि हो रही है जिसमें, दु खों का समूह ही भस्म है जिसमें, अप-  
कीर्ति रूपी धु आ फैल रहा है जिसमें, इच्छित धनरूपी ई धन के  
मिलने से जाव्यत्वता हो रही है जिसमें ऐसी लोभरूपी अग्नि में  
गुणों का समूह पतगों के समान जलकर भस्म हो जाता है अर्थात्  
लोभ के कारण सब गुण नष्ट हो जाते हैं । सारांश—यह है कि कोई  
मुनि या श्रावक धर्म पालन करे और अनर्थकारी लोभ के फदेमें  
पड़ जाय तो गुण नष्ट हो जानेसे ससार में अपकीर्ति हो जाती है  
अतः लोभ का त्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥ ५९ ॥

अथ सतोपगुणभाह

शादूलविक्रीडितछन्द

जात' कल्पतरु पुर' सुरगवी तेषां प्रविष्टागृह ।  
 चिंतास्त्नमुपस्थित करतले प्राप्तो निधि सन्निधि ॥  
 विश्व वश्यमवश्यमेव सुलभा स्वर्गापवर्गश्रियो ।  
 ये सतोपमशेषदोषदहनध्वसायुद विभ्रते ॥६०॥

व्याख्या—ये जना सतोप वृष्णानिरोध विभ्रते धरति तेषां  
 पुरोऽमे कल्पतरु कल्पवृक्षो जात प्रत्यक्षोऽभूत् । पुनस्तेषां गृह सुर  
 गवी कामधेनु प्रविष्टा आगता । पुनस्तेषां करतले चिंतामणिरत्न  
 उपस्थित आगत । पुनस्तेषां निधान द्रव्यस्य निधि सन्निधि समीप  
 प्राप्त । पुनर्विश्व जगत् अवश्य निश्चित तेषां वश्य जात । पुनस्तेषां  
 स्वर्गापवर्गश्रिय देवलोकमोक्षसपद सुलभा सुप्रापा स्युः । कथंभूत  
 सतोपं अशेषदोषदहनध्वसायुद अशेषाश्च ते दोषाश्च अशेषदोषा  
 तेषां दहन तस्य दहनस्य ध्वस अशेषदोषध्वसनाय अभ्युद मेघ स  
 अत सतोप एव कतव्य अत्र सुभीमचक्रवर्तिहृष्टात् ॥ ६० ॥

इति लोभप्रकम

अथ—जो पुरुष सम्पूर्ण दोष रूपी अग्नि को नष्ट करने के  
 लिए मेघों के समान स तोप को धारण करते हैं उनके आगे कल्प  
 वृक्ष उत्पन्न हो जाता है कामधेनु उनके घर में प्रवेश करती है  
 चिंतामणि रत्न उनके हस्ततल में उपस्थित हो जाता है, निधि  
 उनके निकट आ जाती है स्वर्ग मुक्ति की लक्ष्मी सुलभता के

ज होती है, और सारा ससार अवश्य ही उनके वश हो जाता है।

भावार्थ—जो पुरुष मत्तोष धारण कर धार्मिक जीवन अंगीकृत करते हैं उनके पुण्य उदय में उन्हें इस लोक, परलोक में सब सुख के साधन मिलते हैं। कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणिरत्न, नव निधियाँ आदि सभी पदार्थोंका सहज ही समागम हो जाता है और तो क्या ? कर्म काट कर अनन्त अविनाशी सिद्ध पद पाठ हैं।

अथ सौत्थविधानोपदेशमाह—

शितरिणी छन्द

वर क्षिप्त पाणिः क्रुपितफणिनो वक्त्रकुहरे ।

वर क्षपापातो ज्वलदनलकुडे विरचितः ॥

वर प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तर्विनिहितो ।

न जन्य दीर्जन्यं तदपि विपदा सन्न विदुषा ॥६१॥

व्याख्या—क्रुपितस्य फणिन क्रुधस्य सर्पस्य वक्त्रकुहरे मुखविवरे पाणिर्हस्त क्षिप्तो नि क्षिप्त सम् वर भेयान् । पुनर्ज्ज्वलदनलकुडे प्रज्वलत अग्निकुडे क्षपापातो विरचित कृतो वर श्रेष्ठ । पुन प्रासस्य कृतस्य प्रातोप्र जठरान्त उदरमध्ये विनिहित क्षिप्तो वर श्रेष्ठ । तदपि विदुषा पहितेन दीर्जन्य पैशूय न जन्य न कृतव्यमेव । किमूत दीर्जन्य विपदा आपदा कष्टाना सद्म गृह स्थानमित्यर्थः । अत कारणात् सौत्थमेव विधेय ॥ ६१ ॥

अर्थ—कोप को प्राप्त हुए सर्प के मुख रूप छिद्र में हाथ डालना अच्छा है, प्रज्वलित अग्नि के कुण्ड में मम्पापात लेना बुरा पढ़ना श्रेष्ठ है, शीघ्र ही विष खा लेना भी अच्छा है परन्तु विद्वानों को निपत्तियों का घर दुर्जनता का करना अच्छा नहीं है।

भारार्थ—सत्काल भर जाना तो श्रेष्ठ है परन्तु दुर्जनता का व्यवहार करना या दुजनों को संगति करना उत्तम नहीं है ॥ ६१ ॥

पुनराह—

वसततिलक्ष्म छन्द

सौजन्यमेव विदधाति यशश्च य च ।

स्य श्रेयस च विभज च भयस्य च ॥

दौर्जन्यमावहसि यत्कुमते तदर्थम् ।

धान्ये दध ददासि तज्जलसेरुमाष्ये ॥ ६२ ॥

व्याख्या—सौच्यमेव सुजनतैव पुंसा यशश्चय कीर्तिसमूह विदधाति करोति । पुनः श्रेयसं वरुणाण विदधाति । पुनर्विभजं द्रव्य विदधाति । पुनर्भयस्य ससारक्षय मोक्ष विदधाति । ततो हे कुमते हे वृषुद्धे यत्तदर्थं यशश्चयावर्धनी दौजय विजुनता आवहसि धरसि । तत्र धान्ये धान्यक्षेत्रे दध दायाग्नि ददासि ददासि । कथंभूते धान्ये जलसेरुसाध्ये जलस्य सेकेन सिंचनेन साध्ये निष्पादनीये तत्र दध ददासि ॥ ६२ ॥

अर्थ—हे अगानी जीव । मज्जनता ही कीर्ति को सचित करती है, आरम्भकरुणा सम्पदा को देती है तथा ज ममरण रूप

संसार का क्षय करती है। यदि तुम कीर्ति, स्त्रियाण, सम्पत्ति आदि के लिए दुर्जनता का व्यवहार करोगे तो समझो कि तुम जल सिंचन करने योग्य धान्य में अग्नि डालने का कार्य करते हो। इसलिए दुर्जनता का व्यवहार सर्वथा त्यागने योग्य है और सञ्जनता का व्यवहार ही कल्याणकारी है।

दारिद्र्येऽपि सुजनतैः श्रेष्ठेऽस्याह—

पृथ्वीशब्द

धर विभववन्ध्यता सुजनभावभाजा नृणा-  
मसाधुचरितात्मना न पुनरुज्जिता सपदः ।  
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं ।  
विपाकविरसा न तु शययुसमवा स्थूलता ॥६३॥

व्याख्या—धरमिति सुजनभावभाजा सौजन्यसहिताना नृणा पुंसा विभवस्य वन्ध्यता निष्फलता । निर्द्रव्यता दारिद्र्यमेव धर श्रेष्ठ असाधुचरितेन अजिता दीर्घयेन अपाजिता सपद श्रियोपि धर न श्रेष्ठा न श्लाघ्या न । कथमूता सपद ऊजिता बलिष्ठा प्रचुरा तत्र दृष्टान्तमाह सहज स्वाभाविक कृशत्व दीर्घव्यमपि शोभते । तु पुन शययुसमवा शोका जाता स्थूलता पीनतापि न धर न श्रेष्ठा । कथमूत कृशत्व आयतौ उत्तरकाले आगामिकाले सुन्दर शोभन । कथमूता स्थूलता विपाके परिणामे अत्ये विरसा दारुणा ॥ ६३ ॥



अर्थ—सज्जन पुरुषों के धन रहितपना ( निर्धनता ) तो श्रेष्ठ है परन्तु दुर्जनता से कमाया हुआ अधिक धन प्राप्त करना उत्तम नहीं है । जैसे कि शरीर में सुख देने वाली स्वाभाविक कुरूपता तो अच्छी प्रतीत होती है परन्तु जिसका रिपाक [ फल ] बुरा है ऐसी सृजन के कारण होने वाली शरीरमें स्थूलता ( मोटापन ) उत्तम सुखप्रद नहीं होती ।

भाषा—सज्जनता पूर्वक जीवन बिताते हुये गरीब रहना उत्तम है परन्तु दुर्जनता [ दुष्टता ] से अर्थात् पूर्वक धन कमाते हुये धनी रहना उत्तम नहीं है । क्यों कि अर्थात् का धन कभी स्थिर नहीं रहता, नष्ट हो जाता है तथा अन्यायी जीव के परिणामों में सकलेशता सदा विद्यमान रहती है जिसके फलस्वरूप नरकादि गतियों के दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ६३ ॥

सौजन्मभाजा गुणानाह—

शार्दूलविब्रीहित छन्द

न ब्रूते परदूषण परगुण वस्त्यन्पमप्यन्वह ।  
 सतोष वहते परद्विषु पराबाधासु धरो शुचम् ॥  
 स्वरलाघा न करोति नोऽस्ति नय नौचित्यमुल्लघय—  
 त्युक्तोऽप्यप्रियमसमां न रचयत्येतच्चरित्र सतां ॥ ६४ ॥

व्याख्या—सता साधूना सज्जनाना एतच्चरित्र चेष्टितं अस्ति । एतदिति किं सज्जन परदूषण परदोष न ब्रूते । पुनरल्पमपि शुच्छमपि परगुण अथगुण अथह निरन्तर वक्ति कथयति

पुनः परेपा ऋद्धिपु सपत्तिपु सतोप अनभिलाष अमत्सर वहते धत्ते । पुन परावाधासु परपीडासु शुच शोक धत्ते । पुन स्वश्लाघा आत्मप्रशसा न करोति । पुन नय न्याय नोज्मति न त्यनति । पुन-रीचित्यं योग्यता नोल्लघयति नातिक्रामति । पुनरप्रिय विरूप अहित चकोपि भणितोपि अक्षमा क्रोध न रचयति न करोति । सता एत-कचरित्रं वर्तते ॥ ६४ ॥

अर्थ—सापुरुषों का चरित्र ऐसा होता है —कि वे दूसरों के दोषों को प्रगट नहीं करते, दूसरों के योड़े भी गुणों की रात दिन प्रशसा करते हैं, दूसरों के वैभय आदि को देख कर ईर्ष्यालु न होकर स तोप धारण करते हैं, दूसरों के दुस्त्रों को देख कर दुस्त्री हो जाते हैं, अपनी प्रशसा अपने आप नहीं करते किंतु अपनी प्रशसा सुन कर लज्जा प्रगट करते हुये लज्जा से अवनत हो जाते हैं, सकट आने पर भी न्याय नीति का त्याग नहीं करते, योग्य आचरण या श्रुतव्य की उपेक्षा नहीं करते और दूसरों द्वारा कटुक वचनों का प्रयोग किये जाने पर भी क्रोधित नहीं होते क्षमा ( पृथ्वी ) की तरह क्षमा धारणा करते हैं । ऐसा यह सज्जनों का अपूर्व ही चरित्र है ।

भावार्थ—जो सज्जन पुरुष होते हैं वे दूसरों की कटु आलोचना नहीं करते, छिद्रान्वेषी नहीं होते । गुणमोही होने के कारण वे दूसरों के गुणों पर ही दृष्टिपात करते हैं, अवगुणों का त्याग करते हैं ।

अथ गुणसङ्गं वर्णयति—

शार्दूलविकीर्णित छन्द

धर्मं ध्वस्तदयो यश्चरन्व्युत्तनयो विच प्रमत्तं पुमान् ।

काव्यं निष्प्रतिभस्तपः शमदयाशूयोऽल्पमेधा श्रुत ॥

वस्त्वालोरुमलोचनश्चलमना ध्यानं च बाध्यत्यसौ ।

यः सगुणिनां विमुच्य विमतिः कल्याणमाकाङ्क्षति । ६५ ।

व्याख्या—यो विमतिं निवृद्धिं गुणिना गुणवता मनुष्याणां सग ससग विमुच्य त्यक्त्वा कल्याणं भवेयं आपाक्षति असौ विमतिं पुमान् ध्वस्तदयो गतरूप निर्दय सन् धर्मं पुण्यं बाध्यति । पुनश्चरन्व्युत्तनयो गत-यायोऽयायमाकृ सन् यश कीर्तिं बाध्यति । पुनः प्रमत्तं प्रमादी सन् विच धनं बाध्यति । पुनर्निष्प्रतिभं प्रहारहितं सन् काव्यं कर्तुं बाध्यति । पुनः शमेन उपशमेन दमेन च हीनो रहितः पुमान् तपो बाध्यति । पुनः अल्पमेधा तुच्छबुद्धिर्बुद्धि-रहितः सन् श्रुतं शास्त्रं पठितुं बाध्यति । पुनरलोचनो नेत्ररहितः सन् वस्तूनां घटपटादीनां विच्छोकनं दर्शनं बाध्यति । पुनश्चलमना चलचित्तं सन् ध्यानं बाध्यति । तथा गुणवता सगं विना कल्याणं न ॥ ६५ ॥

अर्थ—सो अमानो मनुष्य गुणवान् पुरुषों की सगति छोड़कर अपना कल्याण करना चाहता है वह मूर्ख दया विना धर्म को चाहता है, नीतिमार्ग रहित होकर कीर्ति सम्पादन करना चाहता है आलसी होकर धन कमाना चाहता है प्रतिभारहित हो काव्य

रचना चाहता है समता और इन्द्रियदमन किये बिना ही तप करना चाहता है, अल्प बुद्धि होकर शास्त्र पारगामी होना चाहता है, नेत्रों के बिना पदार्थों को देखना चाहता है, और चंचल चित्त होकर भी ध्यान करना चाहता है ।

भारार्थ—जिस प्रकार दया बिना धर्म नहीं, न्याय बिना कीर्तिलाभ नहीं, परिश्रम किये बिना धनोपार्जन नहीं, प्रतिभा बिना काव्यरचना नहीं, शमदम बिना तप नहीं, निशिष्ट क्षयोपशम बिना श्रुत ज्ञान नहीं चक्षु बिना पदार्थालोकन नहीं, स्थिर मन बिना ध्यान नहीं होता उसी प्रकार सत्संगति बिना मनुष्यका कल्याण भी नहीं हो सकता ।

पुनर्गुणिसङ्ग वर्णयति—

हरिणी छन्द

हरति कुमतिं भिन्ने मोह करोति निवेकिता ।

वितरति रतिं सूते नीतिं तनोति गुणावलिं ॥

प्रथयति यशो घत्ते धर्मं व्यपोहति दुर्गतिं ।

जनयति नृणां किं नाभीष्टं गुणोत्तमसगमः ॥६६॥

व्याख्या—नृणां पुंसां गुणैः उत्तमा गुणोत्तमास्तेषां सगमो नृणां किं किं अभीष्टं वाञ्छितं न जनयति न करोति अपितु सर्वमभीष्टं जनयति । गुणोत्तमसगमः कुमतिं कुबुद्धिं हरति दूरीकरोति । पुनर्मोहं अज्ञानं भिन्ने विदारयति । पुनर्विवेकिता तस्यातत्त्वनिज्ञप्तं करोति । रतिं सतोषं वितरति ददाति । पुनर्नीतिं न्यायं सूते

जनयति । पुनर्गुणावलिं गुणभेदीं तनोति । पाठातरे ॥ विनीतता  
 तनोति । पुनर्यश कीर्तिं प्रययति विस्तारयति । पुनर्धर्मं धत्ते धरति ।  
 पुनर्दुर्गतिं नरकतियग्निरूपा व्यपोहति स्फेप्यति । एव गुणोत्तम-  
 सगम सधमभीष्ट जनयति ॥ ६६ ॥

अर्थ—गुणी जनों की सगति खोटी बुद्धि को हटाती है  
 जीवों की मोह परिणति को नष्ट करती है हेयोपादेय का हान प्रगट  
 करती है, प्रेमभाव ( वात्सल्यभावना ) को बढ़ाती है, नीति मार्ग  
 का आश्रय बनाता है, विनयगुण की वृद्धि करती है, लोकमें यश  
 फैलाती है धर्म सेवन को भावना को उत्पन्न करता है, नरकगति  
 तिर्यचगति के दुर्गम को हटाती है ( नाश करती है ) सत्सगति  
 मनुष्यों को कौन कौन से इच्छित पशाय प्रदान नहीं करती अर्थात्  
 ससार में सर्व उत्तम गुणोंको प्राप्त कराती है ।

पुनराह—

शाश्वतविकीर्तित छ द

लघु बुद्धिकलापमापदमपार्तुं निहतं पथि ।  
 प्राप्तु कीर्तिमसाधुतां विधुनितु धर्म समासेनितु ॥  
 रोद्धु पापविपाकमाकलयितु स्वर्गापरमंश्रिय ।  
 चेत्त्व चित्त समीहसे गुणयतां मग तदङ्गीकुरु ॥ ६७ ॥

व्याख्या—रे चित्त चेन यदि त्व बुद्धिकलाप बुद्धिसमूह  
 लघु प्राप्तु समीहसे बाधसि तत्तदा गुणवता गुणिना सग ससर्ग  
 भगीकुरु विधेहि । पुनर्यदि पथि यायमार्गे विहतु विचरतु बाधसि ।

पुन यदि कीर्तिं यशः प्राप्तु ममीहसे वाञ्छसि । पुण्य समासेषितु कर्तुं समीहसे । पुनर्यदि विपद आपद अपाकृतुं दूरीकर्तुं समीहसे वाञ्छसि । पुनरसाधुता असौजय त्रिघुषितु स्फोटयितु ममीहसे वाञ्छसि । पुनर्यदि घम पुण्य ममासेषितु कर्तुं समीहसे वाञ्छसि । पुनर्यदि पापविपाक अशुभकर्मफल रोद्धु ममीहसे । पुनर्यदि स्वर्गापवर्गमिय देवलोकमोक्षलक्ष्मी आकलयितु अनुभवितु समीहसे । तदा गुणवता सग कुरु ॥ ६७ ॥

अर्थ—हे चित्त । यदि तू बुद्धिका मण्डार प्राप्त करने के लिये, आपत्तियों को हटाने के लिए, स मार्ग में गमन करने के लिये, कीर्ति को प्राप्त करने के लिये, धर्म को शांति पूर्ण सेवन करने के लिये, पापों के फल दुखों को हटाने के लिये स्वर्ग तथा मोक्षकी लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये इच्छा करता है, तो सबजन गुणवान् पुरुषों की सगति को अवश्य ही स्वीकार कर ।

भावार्थ—यदि मनुष्य इह लोक परलोक सम्बन्धी सुखों की भूमिलापा रखता है तो उसे गुणी जनों की सगति करनी चाहिये । क्योंकि ससगति में स-मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाले दोषों का निराकरण होजाता है ।

निर्गुणसगमदोषमाह—

हरिणी छन्द

हिमति महिमाम्भोजे चहानिलत्युदयाम्बुदे ।

द्विरदति दयारामे क्षेमक्षमाभृति वज्रति ॥

समिधति कुमत्यर्गो कदत्यनीतिलतासु यः ।

क्रिमभिलपता श्रेय श्रेयान्म निर्गुणिसगम ॥६८॥

व्याख्या—स निर्गुणसगम क्रिमपि श्रेय कल्याण भूमि  
लपता वाहता पुरुषेण न श्रेय न श्रेयणीय सः कः यो  
महिमा एव महत्त्वमेवाभोज कमल तस्मिन् हिमति हिम इवाचरति  
तद्विनाशकत्वात् । पुनर्यो निर्गुणसग वदय एव घनधातुप्रतापवृद्धि  
देवामोदो मेघस्तत्र चहानिलति प्रचढवायुरिवाचरति । पुनदया एव  
अथवा दम एव आरामो वन तत्र द्विरदति द्विरदवद्गजवदाचरति ।  
तदुन्मूलनयात् । पुनर्यं रोममेवकुशलमेव क्षमाभूत गिरिस्तत्र वज्रति  
वज्रजवाचरति तज्ज्येदरत्नात् । पुनर्यं कुमति रेवाग्निस्तत्र समिधति  
समिद्धधन इवाचरति तद्वृद्धिहेतुत्वात् । पुनर्यो अनातिलतासु अयाय  
मल्लिपु कदति कद इवाचरति तमूलभूतयात् । इदृशो निर्गुणसगम  
श्रेयो वाहता पुरुषेण न श्रेय न श्रेयणीय । अत्र गिरिशुकपुष्पशुकयो  
कया । माताप्येका पिताप्येको गगानाना तु स वचः शृणोति । अह  
च राजन् मुनिपुङ्गवाना प्रत्यक्षमेतद्भवतापि दृष्ट । ससर्गजा दोष  
गुणा भवति ।

इति गुणिसगमप्रथमः

अर्थ—दुजनों की सगति कैसी है इसका एक मानचित्र  
चित्रण किया जाता है—जो निर्गुणी की सगति महिमा ( प्रतिष्ठा )  
रूपी कमल को नष्ट करने के लिये तुषार के तुल्य है, पुण्योदय रूपी  
मेघों को अस्त व्यस्त करने के लिये तीव्रत्रास के समान है, दया  
रूपी उपवन के वजादने के लिये हाथी के तुल्य है, कल्याण रूपी पर्वत

को चूर्ण करने के लिये वज्र समान है, कुण्डलिनी रूपी अग्नि को प्रव-  
लित करने के लिये लकड़ी के समान है, अथाय रूपी लता के लिये  
जड़ समान है ऐसी यह दुर्जन सगति कल्याण के इच्छुक [ मुमुक्षु ]  
जना को क्या कभी हितकर हो सकतो है ? अर्थात् कदापि  
नहीं ।

भाषार्थ—जैसे शीतकाल में हिमपात के कारण कमल वन  
नष्ट हो जाता है या तोषपवन से मेघसमूह, हरनी द्वारा उपवन,  
धरपात द्वारा पर्वत आदि नष्ट हो जाते हैं वसी प्रकार निर्गुणी जनों  
की सगति से मनुष्यों की प्रतिष्ठा, कीर्ति, श्लाघाद्युद्धि समय  
तप आदि नष्ट हो जाते हैं अतः दुर्जनों का समागम हितकर  
नहीं है ।

अथेन्द्रियजयोपदेश माह—

शादूलविकीर्णिव छन्द

आत्मानं कुपयेन निर्गमयितुं यः शूकलारवायते ।

कृत्याकृत्यविनेकजीवितहती यः कृष्णमर्पयते ॥

प. पुण्यद्रुमखण्डखडनविधौ स्फूर्जत्कुठारायते ।

त लुप्तप्रतमुद्रमिन्द्रियगणं जित्वा शुभयुर्भव ॥६९॥

व्याख्या—हे साधो त इन्द्रियगण पञ्चेन्द्रियसमूह जित्वा  
विनिर्जित्य शुभयु शुभसमुच्छो भव । त क य इन्द्रियगण स्पर्शन  
रसन घ्राण चक्षु श्रोत्रसमूह आत्मानं त्वं कुपयेन कुमार्गेण निर्गम-  
यितुं नेतु शूकलारवायते दुर्विनीत अश्व इवापरति तस्य कुमार्गेर्गामि-



स्वभाविश्यात् । पुनः ॥ इन्द्रियगणः । कृत्यं च अकृत्यं च कृत्याकृत्ये  
तयोषियेक एव विचार एव जीवितं जीवितव्यं तस्य हतौ हरणे  
कृष्णं सर्पायते कृष्णसर्प इवाचरति । पुनर्यं इन्द्रियगणः पुण्यमेव  
द्रुमा स्तेषां खण्डं वनं तस्य खण्डने छेदने स्फूर्जन् कुठारायते ।  
स्फूर्जन् तीक्ष्णं कुठार इवाचरति । कथंभूत इन्द्रियगणः लुप्तव्रतमुद्र  
लुप्ता द्विना घताना मुद्रा मर्णादा येन स च ॥ ६६ ॥

अथ—जो इन्द्रियों का समूह अर्थात् इन्द्रिया इस आत्मा  
को खोटे भाग में प्राप्त कराने के लिये बंध लगाम घोड़े के समान  
है, तथा जो कार्य अर्थात् के ज्ञान रूपी जीवन को नाश करने के  
लिये काले सप के समान है और जो पुण्य रूपी वृक्ष के वन को  
काटने के लिये तीक्ष्ण कुठार के समान है ऐसे चारित्र की  
मर्णादा को नष्ट करने वाले इन्द्रियोंके समूहको जीव कर मोक्षगामी  
हो ।

भाषा—इन्द्रिय विषयों के वशीभूत होकर प्राणी कुमार्ग-  
गामी, अविनेकी, पापी और चारित्र भ्रष्ट हो जाता है और तो क्या  
अपने प्राणों को भी गमा देता है जैसा कि कहा है —

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमृङ्गमीनाहता पचमिरेव पंच ।

एक प्रमादी सब कथ न हन्यते, यं सेव्यते पचमिरेव सद्यः । १८॥

अथ—स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हो हाथी, रसना के वशी-  
भूत मछली, घ्राण इन्द्रिय के वशीभूत भोरा, चक्षु विषय का विषयी  
पतङ्ग तथा कर्ण इन्द्रिय का वशीभूत हिरन अपने प्राणों को गमा  
धैठता है । एक एक इन्द्रिय के विषयीभूत होकर जीव जब अपने

प्राणा को सो देते हैं, मृग्य को प्राप्त हो जाते हैं तो यह प्रभादी पुरुष जो पाचों इन्द्रियों के बन्धोभूत हो उसका क्या र अनर्थ नहीं होगा अतः इन्द्रिय-विषय ही जीवोंका बह्याणकारी साग है।

पुनराह—

शिवरिणी छन्द

प्रतिष्ठां यन्निष्ठां नयति नयनिष्ठां विघटय-  
त्यकृत्येष्वधत्ते मतिमतपसि प्रेम तनुते ।

विवेकस्योत्सेकं विदलयति दत्ते च विपदं ।

पदं दोषाणां करणनिकुरुष्व कुरु वशे ॥७०॥

व्याख्या—भो भव्य ! तत् करणानां इन्द्रियाणां निकुरुष्व समूह वशे कुरु वश्यता नय आत्माय च विधेहि । तत्किं तत्करणनिकुरुष्व प्रतिष्ठा महत्त्व निष्ठा अवसानं ह्ययं नयति प्रापयति । पुनर्यत् नयनिष्ठा न्यायस्थितिं विघटयति स्फोटयति । पुनर्यत् अकृत्येष्वनाचारेषु मतिं बुद्धिं अधत्ते स्थापयति । पुन अतपसि अविरतौ प्रेम तनुते स्नेहं करोति । पुनर्यत् विपदं आपदं कष्टं दत्ते ददाति । पुनर्यत् विवेकस्य कृत्याकृत्यविचारस्य उत्सेकं उन्नतस्य विदलयति विध्वंसयति । तत्करणनिकुरुष्व इन्द्रियसमूहं स्ववशे कुरु । कथंभूतं दोषाणां पदं स्थानं ॥ ७० ॥

अर्थ—जो इन्द्रिय-समूह प्रतिष्ठा को बिगाड़ देता है, न्याय-मार्ग को नष्ट करता है, पापकार्यों में बुद्धि लगाता है, कुतप

( सत्यं कृत्वा रहितं मिथ्या तप ) में अनुराग बढाता है, ज्ञान के उत्साह को नष्ट करता है, त्रिपत्तिया को उत्पन्न करता है अर्थात् इन्द्रियविषयलोलुपी मनुष्य पर ही अनेक संकट के बादल छाये रहते हैं इस प्रकार ममस्व दोष का स्थान उस इन्द्रियसमूह को बश करो यह आचार्य का उपदेश भव्यात्मात्मा के लिये है जिससे जगत्-ज्जाल में जीव अपना जीवन व्यय ही नष्ट न करें ।

पुनराह—

शादूलत्रिकीर्तितश्च द

धत्ता मौनमगारमुज्झतु विधिप्रागल्भ्यमभ्यस्यता-  
मस्त्वन्तर्गण'मागमश्रममुपादत्ता तपस्तप्यता ।

श्रेयः पुञ्जनिबुजमज्जनमहावात न चेदिन्द्रिय-  
घात जेतुमर्हति भस्मनि द्रुत जानीत सर्वं तदा ॥७१॥

व्याख्या—हे साधो ! भवान् मौन धत्ता कुरुता । पुन  
आगार गृह उज्झतु त्यजतु । पुनर्विधिप्रागल्भ्य सर्वाचारचातुर्य  
अभ्यस्यता कुर्वतु । अन्तर्गण गन्ध वाममध्ये अथवा अन्तर्घन वन-  
मध्ये अस्तु भवतु । पुनरागमश्रम सिद्धातपठन उपादत्ता अगी-  
कुरुता । पुनस्तपस्तप्यता करोतु । पर चेद्यदि इन्द्रियघात इन्द्रिय-  
समूह जेतुं बशीकृतुं नार्हति न जानाति तदा सर्वं पूर्व्यानुष्ठान  
भस्मनि रक्षया द्रुत ध्या जानीत । कथंभूत इन्द्रियघात इन्द्रियसमूह  
श्रेयमा कल्याणानां पुत्र एव निकृज तस्य मज्जने महावात घातूल-  
समान ॥ ७१ ॥

१ वनमित्य पाठः ।

अर्थ—चाहे तो मौन धारण करो, घर का त्याग करो, विधि विधान की दक्षता का अभ्यास करो किसी भी गण गच्छादि में रहो, शास्त्र पठन पाठनमें कितना ही परिश्रम करो, चाहे व्रत तपस्या करो, परन्तु यदि कल्याण का पुत्र रूप लतामङ्गल को नष्ट करने में तीव्र पवन के समान प्रवीण इन्द्रियों को जीतना नहीं जानते हो तो वह सब क्रियाकाण्ड मत्त में होम करने के समान व्यर्थ ( निष्फल ) है ।

भाषार्थ—यदि मन तथा इन्द्रियों को वश में नहीं किया, विषयों में अनगल प्रवृत्ति करते रहे, भक्ष्य अमक्ष्य का कोई विचार नहीं किया तो ऐसे मनुष्यों का मौन धारण, शास्त्राभ्यास, गृह-त्याग, विधि विधान का पाण्डित्य, तप तपन आदि क्रियायें निष्फल हैं उनमें कुछ लाभ नहीं होता अतः इन्द्रियविजयी बन कर ही कर्तव्य कार्य करना उपादेय है ।

पुनर्विशेषमाह—

शास्त्रं लज्जिहीतं छन्दः

वर्मध्वसधुरीणमभ्रमरसानारीणमापत्प्रथा—

लङ्कर्भीणमशर्मनिर्मिति कलापारीणमेकाततः ।

सर्व्वान्नीनमनात्मनीनमनयात्यतीनमिष्टेयथा—

कामीन कुमथाघनीनमलयन्नक्षौधमक्षेमभाक् ॥७२॥

व्याख्या—अस्त्राणां इन्द्रियाणां ओष समूहं व्रजयन् अवशी-  
कुर्वाण जन अक्षेमभाक् अकल्याणभाग भवति । कथंभूत अक्षौघ

धर्मोच्चसे घुरीण मुरयत । पुनः अध्रमरसस्य सत्यज्ञानस्य आगारीण  
 आवरणाय समर्थ आच्छादक मित्यय पुनः षयभूत आपदा  
 कष्टानां प्रयाया विस्तारणे अलङ्घनीय कमक्षमस्त । पुनः किं  
 विशिष्ट अगमणा अकल्याणा दुःस्वाना निर्मिती निर्माणकरणे  
 कलापारीण चतुरस्त । पुनः किं विशिष्ट एकाततो निश्चयेन सर्वो-  
 न्नीन सर्वोन्मेषकस्त । पुनः किं विशिष्ट न आत्मनेहितोऽनात्म-  
 नीनस्त आत्मनोऽहित । पुनः किं अन्ये अवायेऽत्यतीतोऽत्यतगामी  
 त । पुनः किं इष्टे इष्टवस्तूनि यथाफलमपेक्षया वर्तते इति यथाकामीन  
 र्त । पुनः किं विनिष्ट कुमने कुत्सितमतेऽभ्यनीन पाथस्त । ईदृश  
 इन्द्रियसमूह अनयन् सन्न अक्षेमभाक् भवति ॥ ७२ ॥

कुरगमातगपतगभृङ्गमोनाहतापचमिरेव पच ।

एक प्रमादी स कथं न बध्यते य मेयते पचमिरेव पच ॥

इति इन्द्रियप्रकम

अर्थ—घमको नाश करने में प्रमुग्ध, सत्यज्ञानके आच्छा-  
 दक आवर्तियों के बढ़ाने में समर्थ, दुःखों को उत्पन्न करने में  
 निपुण, सगया एकात रूप से सर्वको भक्षक आत्मा का अकल्याण  
 करने वाले, खोटी नीति में प्रवृत्ति कराने वाले, अपने इष्ट विषयों  
 में स्वेच्छाचारी, कुभाग में चलने वाले ऐसे इन्द्रिय समूह का जो  
 व्यक्ति विजय नहीं करता है वह कदापि अपना कल्याण नहीं कर  
 सकता ।

भाषार्थ—इन्द्रियों को वश किए बिना आत्मा का कल्याण  
 न कभी हुआ और न होगा । विवेकिय पुरुष ही ध्यान के बलसे

कर्मों की निर्जरा कर मुक्ति पद पाते हैं, देखो तो । विषय लोलुपी सुभीम चक्रवर्ती उच्च पद प्राप्त कर, पट्टरत्न के अधिपति और अतुल वैभवशाली होकर भी इन्द्रिय विजयी न होने से अवोगामी हुए [ सप्तम नर्क में गये ] ।

अथ लक्ष्मीस्वभावमाह—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

निम्न गच्छति निम्नगेऽनितरा निद्रेऽव विष्कम्भते ।

चैतन्य मदिरैव पुष्यति मद धूम्येऽधत्तेऽन्यताम् ॥

चापल्य चपलेऽव चुम्बति दग्ध्वालेऽन तृष्णां नय- ।

त्युल्लाम कुलटाङ्गनेऽव कमला स्त्रैः परिभ्राम्यति ॥७३॥

व्याख्या—कमला लक्ष्मी निम्न नीच गच्छति । केव निम्नगा इव मदीय यथा नदी नीच गच्छति । पुन अतिशयेन चैतन्य ज्ञान विष्कम्भते विनाशयति केव निद्रेऽव यथा निद्रा अचैतन्य करोति । पुनलक्ष्मीर्नद अहंकार पुष्यति पुष्णाति केव मदिरैव सुखे यथा मदिरा मद व-मत्तता करोति । पुन कमला अधत्ता दत्ते अधत्त्व करोति । केव धूम्येऽव धूमसमूह इव यथा धूमोप्यध करोति । पुन लक्ष्मी चापल्य चुम्बति मज्जति केव चपला इव विद्युदिव । पुन कमला तृष्णा उल्लास नयति लोभ बाछा वर्द्धयति केव दग्ध्वाला इव यथा दग्ध्वाला तृप्ता वर्द्धयति । पुन कमला स्त्रैः स्वेच्छया परिभ्राम्यति परिभ्रमति केव कुलटाङ्गना इव असती स्त्रीय यथा असती श्री स्वेच्छया भ्राम्यति तद्वदेव ॥ ७३ ॥

अर्थ—लक्ष्मी की अपमा व्यभिचारिणी स्त्री से दी जाती है यह लक्ष्मी कैसी है—लक्ष्मी नदी के समान सदा नीचे की ओर जाती है, नौद के समान जेतना को मूर्छित कर देती है, मदिरा के समान मद (अहंकार) को बढ़ाती है अथवा लक्ष्मीवान् होने के कारण पाप मनुष्य अहंकारी हो जात हैं और अहंकार भाव के कारण दूसरों का अपमान करते हैं अधिक धन के समान अधा बना देती है (अधिक धन के कारण दिग्गर्ह नहीं देता इसी प्रकार लक्ष्मीवान् व्यक्ति दूसरों को देखता हुआ नहीं देखता, नहीं गिनता) मित्रों के समान मनुष्य के हृदय में चञ्चलता लक्ष्मी के कारण बढ़ जाती है परिणाम में स्थिरता नहीं रहती, धन की दवाग्नि के समान वृष्णा बढ़ाती है, व्यभिचारिणी स्त्री के समान श्वशुर दृष्टानुमान यत्र तत्र [ कहाँ कहाँ ] घूमती रहती है।

धनस्य दोषानाह—

दादृष्टविहीनित ह्यद

दायादाः स्पृहयति तस्करगणा मुण्यति भूमीमुन्नो ।

गृहन्ति हलमाकलय्य हुतमुग्मस्मीकरोति क्षणात् ॥

अम्म प्लावयते सितौ मिनिहित यथा ह्यते हठात् ।

दुर्धृत्ता स्तनया नयति निघन धिग्बहुधीन धन ॥७४॥

व्याख्या—धन द्रव्य धिक् अस्तु । धिग निर्मत्सतनिदयो । किंभूत बहुधीनत्व बहुव इच्छति । यथा दायादा गोत्रिण स्पृहयति गृहीतु वाञ्छति । पुनस्तस्कर गणारघोरसमूहा मुण्यति चोरयति ।

पुन भूमिभुजो राजान छल आकलय्य मिष दत्त्वा गृह्णन्ति हुतभुग्  
 यद्धि क्षणाद् धेगेन मस्मीकरोति । ब्यालयित्वा रक्षा करोति । पुन-  
 रम पानीय प्लावयति वाहयति । पुनर्यदुधन क्षितौ भूमौ विनिहित  
 स्थापित सत् यश्चा ज्यतरा हठात् बलात्कारेण हरते अपहरति । पुन-  
 दुर्वृत्ता दुराचारास्तनया पुत्रा निधन विनाश नयति प्रापयन्ति ।  
 एष बह्वधीनं धन धिगस्तु ॥ ७४ ॥

अर्थ—कैसा है धन, भाई यद्यु कुटुम्बी जन जिसके लेने के  
 लिए रातदिन बाछा करते हैं, चोर जिसे चुरा लेते हैं, राजा लोग  
 छूट कपट रच कर जिसे लेते हैं, अग्नि क्षण भर में जला देती है  
 पानी जिसे बहा ले जाता है, पृथ्वीमें गड़े हुए धन को भूत प्रेतादि  
 जबरदस्ती हर लेते हैं, दुराचारी पुत्र जिसे नष्ट कर देते हैं ऐसे अनेक  
 विघ्न बाधाओं के आघोन रहने वाले अर्थीज जिस धन को सभी  
 ससारी जीव चाहते हैं पर सबको मिलता नहीं, ऐसे उस धन को  
 धिक्कार हो । -

भावार्थ—धन प्राणों से भी प्यारा होता है जिसका धन  
 चोरी चला जाता है वह पागल हो जाता है, कभी कभी तो मनुष्य  
 धन के नष्ट हो जाने पर अपने प्राणों का भी विसर्जन कर बैठता है  
 ऐसे धन को धिक्कार है । -

कहा भी है —( आत्मानुशासन ६५ श्लोक )

अर्थिनो धनमप्राप्य, धनिनोऽप्यविरुप्तिरत  
 कष्ट सर्वेऽपि सीदति, परमेको मुनि सुखी ॥ -

अर्थ—धन के चाहने वाले धन को न पाकर दुखी होते हैं



और पतान्तों के धन की त्यागमा प्रविष्ट होते हैं और धन के होते हुये भी वे दुग्धी रहते हैं। इस प्रकार निषेध और धन दोनों दुरस्ते हैं तब गुनि ही सुग्धी हैं। क्योंकि बड़ोते सभी प्रकार के परिपक्व की बाँझा छोड़कर परम सतोष प्राप्त कर लिया है।

धनमोहोत्पादकत्वमाह—

नाहू सविश्रीहितं तद

नीरस्यापि तिर चट्टनि रायन्त्यायान्ति नीरैर्नति ।

शत्रोरप्यगुणात्मनोऽपि विदधन्नुक्तैर्गुणोकीर्तनं ॥

निर्वेद न विदति त्रिदन्ताशस्यापि सेराप्रमे ।

षष्ट विनमनमिनोऽपि मनुजाः कुर्यन्ति रिचार्थिनः ॥७५॥

व्याख्या—मनस्थितो मानवतो रक्षा अपि मनुष्या रिचार्थिनो द्रव्याणि संत किं कष्ट न कुर्वति । अपि तु सार्धं कष्ट कुर्वति । यथा नीचायापि तरायापे चिर चिरकाल यावत् चट्टनि पाटु-वपनानि प्रियवपनाणि स्वयंति लक्ष्यति । पुनर्नीचे गरीः मम नति आयाति प्रणामं कुर्वति । पुनः शत्रोरपि अगुणात्मनोपि त्रिगुण-स्यापि चत्वरतिशयेन गुणोकीर्तनं गुणवर्णनं विदधति कुर्वति । पुनः अष्टाशस्यापि सेराप्रमे स्वेदं सेवाकरणे किञ्चिन् स्तोत्रमपि निर्वेदं तद वैराग्य न विदति न आति विचारादका संत ॥ ७५ ॥

अर्थ—धन प्राप्त करने के अमिलायी होकर मनायी लोग भी नीच गुण की बहुत बाल पर्यंत पाटुकारिता ( सुशामद, वचन द्वारा हों दुजुरी ) करते हैं, शत्रु के आगे भी उतमस्तक रहते हैं,

दोषीयनों के भी गुण वर्णन करते हैं, कृतघ्नी मनुष्य की सेवा करने में भी विरक्ति ( ग्लानि ) नहीं करते। यही बड़े दुःख का विषय है।

भावार्थ—सुखिमान् पुरुष को धन की प्राप्ति के लिये तुच्छ-जनों की सेवा, चादुकारिता करना शोभा जनक नहीं है परन्तु स्वाभिमान स्वप्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुये पुण्योदय से प्राप्त वित्त वैभव में सन्तोष रखते हुये धार्मिक जीवन व्यतीत करना ही उत्तम है। इसी भावना के बल से ही इह लोक, परलोक का सुधार समीचीनतया सम्पादन हो सकता है। लुब्धावान् जीव को कमी भी जीवन में सुख शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। मानव जीवन रूपी चित्तामणि आत्म कन्याएँ के लिये पाया है न कि पर पदार्थों में परिणति को विगाड़ कर आत्मपतन के लिये।

उपमानेन श्रीस्वरूपमाह—

शार्दूलविक्रीडितश्च

लक्ष्मीः सर्पति नीचमर्णवपयः सङ्गादिवाम्भोजिनी ।

संसर्गादिव कटकाकुलपदा न क्वापि घत्ते पद ॥

चैतन्य विपसन्निधेरिव नृणामुज्जासयत्यञ्जसा ।

धर्मस्थाननियोजनेन गुणिमिग्राहि तदस्याः फल ॥७६॥

व्याख्या—लक्ष्मी नीच सर्पति नीचजनप्रति याति । कस्मात् उत्प्रेक्षते अर्णवपय सगात् समुद्रजलसगमान् नीचगामि यभूत् । पुन-लक्ष्मी क्वापि पद स्थानं न घत्ते न स्थापयति । कीदृशी अम्भोजिनी संसर्गात् कमलिनी संयोगादिव कटकाकुलपदा कटकै व्याप्तचर-

येन । पुनराश्मी नृणां पुसा चैतन्यं ज्ञानं अजमा धेगेन उज्जासयति  
 गमयति परमां विपसां नपेर्विपसामीप्यादिव । लक्ष्म्या विपस्य च  
 समुद्रस्यानत्वान् तस्मात्सारणान् गुणिभिर्जनेर्भग्नान्नियोजनेन  
 धर्माद्यानव्ययकरणेनास्या लक्ष्म्या कां प्राप्ता सफलं कृतव्या  
 इत्यनं ॥ ७६ ॥

इति लक्ष्मी स्वभाव प्रकम्

अर्थ—लक्ष्मी समुद्र के जल की संगति से ही मानों नीचे की  
 ओर गमन करती है कमलिनी के समान मे ही मानों पैरों में काटे  
 चुभने की पीड़ा से आकुलित होती हुई मानों कहीं पर स्थिर पैर  
 नहीं रखती अर्थात् बहुत काम तक एक स्थान पर लक्ष्मी नहीं  
 रहती तथा लक्ष्मी को विष की विषमता रही है इसी हेतु मानों  
 यह लक्ष्मी मनुष्यों की चैतन्य शक्ति को शीघ्र ही मूर्छित कर देती  
 है अतः गुणवान् पुरुषोंको धर्म स्थानों में रक्ता कर देने से ही इस  
 लक्ष्मी के प्राप्त करने की सफलता ग्रहण करनी चाहिये ।

भाष्य—साहित्यिक वर्णन है कि लक्ष्मी समुद्र में उत्पन्न  
 हुई है और कमल निवासिनी है, समुद्र मंथन से विष भी उत्पन्न  
 हुआ था अतः लक्ष्मी विष की वहिन है । समुद्र-जल से उत्पन्न होने  
 के कारण लक्ष्मी जल के समान नीचे की ओर ही जाती है तथा  
 कमल निवासिनी होने के कारण पैरों में काटे चुभ जाने के मयसे  
 कहीं पर स्थिर नहीं रहती । अतः लक्ष्मीका यह स्वभाव दिखाया  
 है, और विष की वहिन होने के कारण लक्ष्मी मनुष्यों को अचेत  
 कर देती है अर्थात् धन के महावेश में आकर पुरुष अचेत हो जाते  
 हैं जिसके कारण पूज्य पुरुषों का भी अपमान कर बैठता है, हित

हित का विवेक नहीं रहता । अतः इसको धर्मकार्यों में लगाने से ही इसके प्राप्ति करने की शक्यता है । धन खर्च करने के सात क्षेत्र हैं—  
 विनयप्रतिमा, जिनमन्दिर, श्रुतज्ञान, मुनि, आर्यिका, श्रावण श्राविका  
 इन सात धर्मस्थानों में लक्ष्मी का मनुष्योपयोग करने वाले पुरुष ही  
 सद्गृहस्थ हैं उन्हींके द्वारा धर्म की अपूर्ण प्रभावना होती है, वात्सल्य  
 भाव की वृद्धि होती है, अनेक जीवों का धर्म में धर्म का स्थिति-  
 करण होता है तथा ॥३॥ पर कल्याण होता है ।

दानोपदेश द्वारमाह—

१. शार्दूलविकीरित छन्द

चारित्र्य चिनुते तनोति विनय ज्ञान नयत्युन्नति ।

पुष्पाति प्रशम तपः प्रमलयत्युल्लामयत्यागम ॥

पुण्य कन्दलयत्यथ दलयति स्वर्गं ददाति क्रमात् ।

निर्वाणश्रियमातनोति निहित पात्रे पवित्र धन ॥७७॥

व्याख्या—पवित्र व्यायोपात्रित धन विहित पात्रे सुपात्रे

निहित दत्त सत् चारित्र्य सयम चिनुते वर्द्धयति । विनय विनयगुण  
 तनोति प्रीणयति । पुनर्ज्ञान श्रुतादि वर्द्धयति नयति प्रापयति । पुनः  
 प्रशम उपशम पुष्पाति पोषयति । पुनस्तपो मासक्षमणादि प्रयत्न-  
 यति पारणादियोगादुत्साहयति । पुनरागम सिद्धात् पठनादि वर्द्धा-  
 सयति प्रवृत्ति करोति । पुनः सत्कर्मजन फललयति फललुप्त  
 करोति । पुनः अथ पापं दलयति गृहयति । पुनः स्वर्गं ददाति  
 क्रमात् अनुक्रमेण निर्वाणश्रिय मोक्षलक्ष्मीं आतनोति दत्ते इत्यर्थः ।  
 सुपात्रे दत्त धन पदानि वस्तूनि करोति ॥ ७७ ॥

अर्थ—पात्र सत्पात्र को दिया हुआ धन चारित्र्य का सचय करता है, चिनय बढ़ाता है, ज्ञान की वृद्धि करता है, प्रशम ( शांत ) भाव को परिपक्व करता है, तप को प्रबल बनाता है, आगम के ज्ञान को उल्लासित करता है, अर्थात् शास्त्र ज्ञान की वृद्धि करता है, पुण्य की जड़ को पुष्ट करता है, पाप को नष्ट करता है, स्वर्ग देता है और क्रम से मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कराता है ।

सारांश—पात्र तीन प्रकार के हैं —उत्तम, मध्यम, जघन्य । उत्तम पात्र मुनि, आधिका हैं । मध्यम पात्र ब्रती आनक ग्यारहवीं प्रतिमा तक के घारी तथा जघन्य पात्र व्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं । उत्तम पात्रों को दान देने से उत्तम फल, मध्यम को देने से मध्यम, और जघन्य को देने से जघन्य फल मिलता है । इसका विशेष ध्यान आवश्यक आचार प्रयोगों से जानना पर पात्र दान का फल संक्षेप में इस प्रकार है —

( श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरणध्यावकाचार में कहा है )

क्षितिगतमिव वटबीज,

पात्रगत दानमल्पमपि फले ।

फलति च्छायाभिभवा,

बहुफलमिष्ट शरीरभृतम् ॥

जिस प्रकार वट [ बरगद ] का बीज बहुत छोटा होता है परन्तु उस छोटे बीज से इतना विशाल वृक्ष होता है कि जिसकी छाया में हजारों पुरुष बैठ सकते हैं । वसी प्रकार पात्रों को भक्ति पूर्वक दिया हुआ छोटा भी दान विशिष्ट फल को देता है ।

दान देते समय दातार के इतने विशुद्ध परिणाम होते हैं कि जिसकी तुलना नहीं की जा सकती है। उन्हीं विशुद्ध परिणाम के कारण जिस जीव के कुगति बन्ध होकर परमव सम्बन्धी आयुका बन्ध यदि नहीं पड़ा है तो वह कुगति बन्धको छेद कर सुगति-बन्ध को कर लेता है। और तो क्या ? दान देने की अनुमोदना करने वाले भी उत्तम क्षेत्र में जाकर जन्मधारण करते हैं। देखिये जब राजा वज्रजघ और रानी भीमती भक्तिपूर्वक मुनियों को दान दे रहे थे उस समय सिंह, बैल, नेवला, घन्दर आदि पशु उस दान, पात्र और दातार की सराहना कर रहे थे। दान देने के माहात्म्य से ये दोनों राजा रानी उत्तम भोग भूमि में उत्पन्न हुए और सराहना करने वाले वे पशु भी उसी उत्तम भोग भूमि के क्षेत्र में तिर्यञ्च पर्याय में अवतरित हुये। कर्म भूमि के प्रारम्भ में राजा वज्रजघ का जीव प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभनाथ हुये और रानी भीमती का जीव श्रेया स राजा हुये जो दान के प्रथम प्रवर्तक कहलाये इस प्रकार दान की महिमा अद्भुत है। गृहस्थावस्था में पद कर्म [ अस्ति, भस्ति, कृषि, वाणिज्य, विद्या शिल्प ] द्वारा उपार्जित जो पाप हैं वे दान के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं ऐसा दान तीन प्रकार के पात्रों में निरन्तर देना योग्य है।

शार्दूलविक्रीडितञ्च

दारिद्र्य न तमीक्षते न भजते दौर्भाग्यमालम्बते ।

नाकीर्तिर्न पराभयोऽभिलषते न व्याधिरास्कन्दति ॥

दैन्य नाद्रियते दुनोति न दरः क्लिरनन्ति नैवापदः ।

पात्रे यो वितरत्यनर्थदलन दान निदान श्रियः ॥७८॥

व्याख्या—य पुमान् पात्रे सुपात्रे दानं वितरति प्रयच्छति तं पुरुषं दारिद्र्यं न ईक्षते न पश्यति । पुनस्तु दीर्भाग्यं दुर्भाग्यं न मज्जते न सेवते । पुनः अकीर्तिरयशस्तं नालम्बने नाश्रयति । पुनः तं पराभवः परिभषणं नामिल्लपतेन बोध्यति । पुनर्भ्याधिरामयति तं नाश्रयति न शोषयति । पुनर्देयं दीनतां नाद्रियते नाश्रयति । पुनर्दंशो भयं तं न दुनोति न पीडयति । पुनः आपदो व्यसनानि कष्टानि तं न क्लिश्नन्ति न पीडयति । यः पात्रे दानं ददाति । किंभूतं दानं अनर्थाणां उपद्रवानां दलनं ह्येदं । पुनः किंभूतं भियां सपदा निधानं कारणं ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सत्पात्र के लिये लक्ष्मी बढ़ने का एक मात्र कारण तथा अनर्थों का दूर करने वाला दान देता है उसको दारिद्र्यता कभी नहीं देखती अर्थात् वह दारिद्र्य कभी नहीं होता, दुर्भाग्य उसकी कभी सेवा नहीं करता, अपकीर्ति उसकी सत्कार में नहीं होती, तिरस्कार उसका नहीं होता, व्याधियाँ ( रोग ) उसको कभी नहीं सताती दीनता उसका आश्रय नहीं करती, भय क्षोभ पैदा नहीं होता आपत्तियाँ उसको कभी नहीं सताती वह सदा स्वस्थ रहता है ।

भावार्थ—जो पात्राक लिये अज्ञापूर्वक अपना कर्तव्य समझ कर दान देते हैं उसके सभी विघ्न, उपद्रव शांत हो जाते हैं । गार्हस्थ्य धर्म की शोभा दान से ही है । “शृही दानेन शोभते” ऐसा आचार्यों का वाक्य है । दान बिना घर शून्य माना गया है ।

दानगुणमाह—

शादूँलविकीदित छन्द

लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकरुते ।  
 प्रीतिञ्चुम्बति सेवते सुमगता नीरोगतालिङ्गति ॥  
 श्रेयः सहतिरभ्युपैति घृणुते स्वर्गोपभोगास्थिति ।  
 मुक्तिर्वाञ्छति यः प्रयच्छति पुमान्पुण्यार्धमर्थं निज ॥७९॥

व्याख्या—य पुमान् पुण्यार्धं निज अर्थं स्वकीयं धनं प्रय-  
 च्छति ददाति तं पुरुष लक्ष्मीं कमलां कामयते वाञ्छति । पुनर्भति-  
 दुर्द्धिस्त मृगयते अन्वेषयति । पुनः कीर्तिस्त आलोकते पश्यति । पुनः  
 प्रीतिरानन्दस्त चुम्बति शिख्यति । पुनः सुमगता सौभाग्यं सयते  
 मज्जति । पुनः नीरोगता आरोग्यं त आलिङ्गति । पुनः श्रेयः सहति  
 कल्याणपरम्परां त अभ्युपैति मन्मुखमायाति । पुनः स्वर्गोपभोगा-  
 स्थितिं वैवश्वभोगपद्धतिस्त घृणुते वरयति । पुनर्मुक्तिर्मोक्षस्त वाञ्छति  
 यः पुण्यार्धं निज अर्थं प्रयच्छति ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपना धन दानादि पुण्य कार्यों के लिये  
 दे देता है लक्ष्मी स्वयं ही उससे मिलने की इच्छा करती है, अर्थात्  
 दान के प्रताप से उसके घर स्वयं लक्ष्मी आजाती है, बुद्धि उसे  
 ढूँढती है, कीर्ति देखती है, प्रीति उसे स्पर्श करती है, सुमगता  
 [ सौभाग्यपना ] उसकी सेवा करती है, आरोग्यता आलिङ्गन करती  
 है, कल्याण समूह प्राप्त होता है। स्वर्गों के भोग उपभोग की  
 सामग्री ( कल्पवृक्षों द्वारा प्राप्त सुन्दर वस्त्र, पुष्प, वाद्यादि अनेक



प्रकार ) प्राप्त होती है तथा मुक्ति भी उसकी इच्छा कर  
 ऐसा जान कर पात्रोंको सदा फालवान देना योग्य है ।

भूयोप्याह—

मन्त्रावातादृश

तस्यामन्ना रतिरनुचरी कीर्तिकरकण्ठिता  
 स्निग्धा बुद्धिः परिचयपरा चतुर्वर्तिन  
 पाणौ प्राप्ता त्रिदिवकमला रामुकी मु  
 मन्त्रज्ञेया उपति विपुल रिचरीज

व्याख्या—य पुमान् निज स्वकीय

धीन सप्तक्षेत्र्या जिनभक्त १ जिन विषय २

रूपाया वपति तस्य पुरुषस्य रति

तया तस्य कीर्तिरनुचरी मन्त्रिका स्यात्,

घातहिरण्यरूपा ठरकठिता मित्तनोरका

काया रिचग्धा रोहवती स्यात्तया तस्य

मात्रंभीम विभूति सुपरिचिता स्यात् ।

भी पाणौ हस्ते प्राप्ता संगता स्वाशया

की सामिल्याया स्यात् सप्तक्षेत्र्या

अत्र धनसालिभद्र ५५ ।

अर्थ—जो पुरुष अपना बहुत

मोता है ( सातक्षेत्र — जिन प्रतिमा,

आयिका आवक, आविका, ये सात

धन जाती है कीर्ति उसकी दासी रहती

पिठत रहती है, बुद्धि जपते प्रेम करती है चक्रवर्तिकी श्रद्धिया उसमें परिचय रखती हैं, स्वर्ग की लक्ष्मी उसके हाथमें आजाती है, और तो क्या मुक्ति-लक्ष्मी उसकी अभिलाषा करती है।

भार्य—जो पुण्यात्मा पुरुष धार्मिक नीति से कमाये हुये धन को धार्मिक कार्यों में खर्च करते हैं अर्थात् जिन प्रतिभा, जिन मन्दिर बनवाने में या उनकी जीर्णोद्धार करानेमें शास्त्रोंको लिखाने लिखाने व वितरण करनेमें तथा मुनि आर्यिका आरक भाविका के आहार दान में, औषधिदान में उनकी परिचर्या करने कराने में अपना रुपया लगाते हैं वही का धन पाना सकल है ये ही मनुष्यों में शिरोमणि हैं, वही का मनुष्य ज म पाता धन्यवाद के योग्य है, उनसे सभी जीव प्रेम करते हैं ससार में उनकी चारों ओर कीर्ति फैलती है, लक्ष्मी उनके चरणों में लोटती है उनकी विशिष्ट बुद्धि या प्रतिभा होती है, चक्रवर्ति की विभूति भी उन्हें प्राप्त होती है, स्वर्ग की लक्ष्मी तथा मुक्ति लक्ष्मी तक उन्हें प्राप्त होती है इसलिये पात्रों को दान देना, उनकी सेवा भक्ति करना औषधि देना, उनके दुख सकट उपसर्ग को दूर करना, उनकी ज्ञान वृद्धि के हेतु शास्त्रों को वितरण करना भावकोंका कर्तव्य है।

अथ तप उपदेशद्वारमाह—

शार्दूलविकीर्तितछन्द

यत्पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशं यत्कामदानानल—

ज्वालाजालजल यदुग्रकरणग्रामाहिमन्त्राक्षरम् ।

यत्प्रत्यूहतमः समूहदिवम य लब्धिलक्ष्मीलता-  
मूल तद्द्विविध यथाविधि तपः कुर्वीत वीतस्पृहः ॥८१॥

व्याख्या—वीतस्पृह वीता गता स्पृहा वाछा यस्य स वीत-  
स्पृहः सन् वाछा निदानादि रहित सन् तद्द्विविध तपः कुर्वीत कुर्यान्  
तत्किं यत्तपः पूर्वे भवे अजितानि उपाजितानि यानि कर्माणि तान्येव  
शैला पर्वतास्तपु कुलिश वज्र तेषां छेदकत्वात् । पुनर्यत्तपः यत्काम  
एव दायानलोदावाग्नितस्य ज्वालानां जालं समूहस्तत्र जलं तद्वि-  
नाशकत्वान् । पुनर्यत्तपः उग्रो दाह्यो यः करुणात्त इन्द्रियाणां ग्रामं  
समूहं स एवाहि सर्पस्तस्य मन्त्राक्षर सर्वमग्नस्य बीजं । पुनर्यत्तपः  
प्रत्यूहा एव विघ्ना एव तमसोऽन्धकारस्य समूहस्तत्र दिवः दिनं तन्नाश-  
कत्वात् । पुनर्यत्तपो लब्धिलक्ष्मी लब्धिं तपदैव लता वल्लीस्तस्या-  
मूलं वत्पादनकृद् तद्द्विविधं द्वादशप्रकारं तपः कुर्वीत ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो तपः पूर्व भव में उपाजित किया गये कर्मरूपी  
पवन को मेढ़ने के लिये वज्रसमान है, काम रूपी दायानलकी ज्वा-  
लाओं को बुझाने के लिये जल के समान है प्रत्यूह इन्द्रियों के  
समूह रूपी सर्प को वध करने के लिये मन्त्र के समान है, विघ्न रूपी  
अन्धकार-समूह को नाश करने के लिये दिन-समान है तथा जो  
तपः नष्ट केवल लब्धि की लक्ष्मी रूपी वेल का मूल कारण है । वह  
दो प्रकार ( अन्तरग, बहिरग ) का तपः निस्पृह होकर त्रिविधपूर्वक  
करना चाहिये ।

भाषार्थ—इच्छा निरोध तप से ही पूर्वमन्त्र के संचित कर्मों  
की निपटा जाती है, कामादि विचार परिणति दूर हो जाती है

इन्द्रियों का दमन होता है, विघ्न आदि शांत हो जाते हैं, क्षायिक-  
ज्ञान क्षायिक दर्शन आदि नव लब्धिया भी तप के बल से प्राप्त  
होती हैं। ऐसा जान कर बाह्य आभ्यन्तर दो प्रकार का तप निदान  
रहित करना चाहिये।

तप प्रभावनामाह—

आर्द्रलविक्रीडितल्लन्द

यस्माद्विघ्नपरम्परा निघटते दास्य सुराः कुर्वते ।  
कामः शाम्यति दाम्पतीन्द्रियगणः कल्याणमुत्सर्पति ॥  
उन्मीलन्ति महर्द्धयः कलयति ध्वंस च यः कर्मणा ।  
स्वाधीन त्रिदिव शिव च भवति श्लाघ्यं तपस्तन्न किं । ८२ ।

व्याख्या—तत्तप किं श्लाघ्यं न प्रशस्य न अपि तु श्लाघ्य-  
मेव । तर्हि यस्मात्तपसो विघ्नपरंपरा कष्टश्रेणिविघटते विलय  
याति । पुनः सुरा देवा दास्य दासत्वं कुर्वते । पुनर्यस्मात्कामः शाम्यति  
उपशम याति । पुनरिन्द्रियगणः पञ्चेन्द्रियसमूहो दाम्प्यति दम  
प्राप्नोति । पुनर्यस्मात्तपसः कल्याण श्रेयः वस्मर्पति प्रसरति । पुन-  
र्यस्मात् महर्द्धयस्तीर्थकरादिसपद उन्मीलति विकसति । पुनर्यस्मात्  
कर्मणा ज्ञानावरणीयादीनां च यः समूहो ध्वंसनाश कलयति प्रयाति  
पुनर्यस्मात्तपसः त्रिदिव स्वर्गं च पुनः शिव मोक्ष स्वाधीन स्वायत्त  
स्यात् तत्तपसः किं श्लाघ्यं न स्यात् । अपितु श्लाघ्यमेव ॥ ८२ ॥

अर्थ—जिस तप के प्रभाव से विघ्नों का समूह नष्ट हो  
जाता है, देव भी सेवक बनकर सेवा करते हैं, काम की विकार  
परिणति शांत हो जाती है, इन्द्रिया वशीभूत हो जाती हैं, कल्याण

कनक दशा को प्राप्त होता है, अनेकों महान् श्रेष्ठियां स्वयमेव प्रगट हो जाती हैं, कर्मों की गुणश्रेणि निर्जरा होती है तथा जिसके प्रभाव से स्वर्ग और मोक्ष अपने आधीन हो जाते हैं ऐसा तप फिर प्रशंसा योग्य क्यों न हो ? किंतु अगस्त्य ही प्रशंसा योग्य है ।

पुनरप—

शास्त्रं लविक्रीडितं द्रव

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना ।  
 दावाग्निं न यथापरं शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरः ॥  
 निष्णातः पवनं विना निरमितुं नान्यो यथाम्भोधरः ।  
 कर्मोप तपसा विना किमपरं हर्तुं समर्थस्तथा ॥ ८३ ॥

व्याख्या—यथा कान्तारं यनज्वालयितुं दवाग्निं विना इतरो अथो दक्षो न । पुनर्यथा दावाग्निं शमयितुं विध्यापयितुं अम्भोधरं मेघं विनाऽपरं शक्तो न समर्थो न । पुनर्यथाऽम्भोधरं मेघं निरसितुं दूरीकृतुं पवनं विनाऽन्यो न निष्णातो न निपुणः तथैव कर्मोप कर्मसमूहं हर्तुं श्रेष्ठं तपसा विनाऽयत्किं समर्थं अपितु ॥ किमपि किंतु तप एव कर्मोणि हतुं समर्थः ॥ ८३ ॥

अर्थ—जैसे वन को जलाने के लिये दावानल अग्नि के बिना अन्य दूसरा समय नहीं है, दावानल को शांत करने के लिये विना मेघों के अथ कोइ समय नहीं है, जैसे मेघों को क्षिप्त भिन्न करने के लिए पवन बिना दूसरा शक्तिमान नहीं है उसी प्रकार कर्मों को नष्ट करने के लिये तप के बिना क्या कोई दूसरा समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है ।

भार्य—तप की सामर्थ्य से कर्मों की निर्जरा होती है  
अथ दूसरा कोई साधन नहीं है । जन्म जन्मांतर के संचित कर्म  
तप बल से ही नष्ट होते हैं अतः यथाशक्ति तप अवश्य करना  
चाहिए ।

पुनराह—

स्रग्धरा छन्द

सन्तोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकर स्कन्धग्रन्थप्रपञ्चः ।

पञ्चाक्षीरोधशासः स्फुरदभयदलः शीलसप्तप्रवालः ॥

श्रद्धाम्भ-पूरसेकाद्विपुलकुलवलैश्वर्यसौन्दर्यभोगः

स्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः शिशुसुखफलदः स्वाक्षयः पादपोऽय ॥८४॥

व्याख्या—अथ तप एव पादपो वृक्ष शिवसुखफलदः स्यात्  
शिवसुखायेन फलानि ददातीति शिवसुखफलद मोक्षफलदाता  
स्यात् । किंभूत तप पादप सन्तोषो मूर्द्धात्याग एव स्थूल पुष्ट मूल  
यस्य स । पुन किंभूत प्रशम क्षमा एव परिकर परिहारो यस्य  
स । पुन किंभूत स्कन्धा आचाराणादिशतस्पर्धास्तेषां यथो रचना  
एव प्रपञ्चो विस्तारो यस्य स । पुन किंभूत पञ्चानां अक्षाणां  
इन्द्रियाणां समाहार पञ्चाक्षी रोध एव शास्त्रा यस्य स । पुन  
किंभूत स्फुरत् देदीप्यमान अभय अभयदानमेव दल यस्य स । अथवा  
स्फुरानि प्रकटानि विनय रूपाणि दलानि यत्राणि यस्य स ।  
पुन किंभूत शीलसप्तदेव प्रह्लादप्रतमेव प्रवाला नवपल्लवा  
यस्य स । पुन किंभूत भद्रा रुचि सैव भग्न पानीय तस्य पूर-  
स्तेनसेक सिञ्चन तस्मात् विपुलानि विस्तीर्णानि कुलवलैश्वर्यसौन्दर्य-

एवेव भोगो यस्य स अथवा विपुलकुण्डलैश्चयाएवेव विस्तारस्य  
भोगो यस्य म । पुन कि भूत स्वर्गादीना देवलोकमययकाउत्तरयि  
मानाता प्राप्तय एव पुष्पाणि यस्य म । ईदृगास्तप एव पादपो वृत्त ।  
स शिरसुत्वमेव फल ददाति ॥ ८५ ॥

अत्र वसुदेव हरिकण्वकया ॥

अथ—यह तप वृक्ष के समान है वैसा है तपरूप वृक्ष  
स-तोप ही है दृढ़ जड़ जिसकी, प्रशम सयेगादिरूप शब्द य-ध का  
कैलाव है जिसका, पाचों इंद्रिया के निरोध रूप आत्मायें हैं जिसकी  
द्वंद्वीयमान अमय पत्र [ पत्ते ] लग रहे हैं जिसके, शील सम्पत्ति  
रूपी फोंपलें हैं जिसकी, भट्टा रूपी पल के मीचने म उत्तम फुल,  
विपुल ऐश्वर्य सुन्दरता नाना प्रकार के भोग युक्त स्वर्गादिरूप पुष्प  
हैं जिसके ऐसा तप रूपी वृक्ष मोक्ष पद रूपा फल को देता है ।

भाषार्थ—लोक पूज्य महान् उत्तम फल को देने वाले ऐस  
तप रूपी वृक्ष की विषयादि रूपी अग्नि स रक्षा करना योग्य है  
अथवा यह सबका नष्ट हो जायगा ।

भावोपदेशमाह—

शार्दूलविक्रीडितश्च

नीरागे तरुणी कटाक्षितमिवत्यामव्यपेनप्रमोः ।

सेवाप्रमिषोपरोषणमिगाम्भो नन्मनामश्मनि ॥

निष्कर्मर्षमिगोपरसितितले दानार्हदचरितप ।

स्वाध्यायाध्ययनादि निष्फलमनुष्ठान निना भावनां ॥ ८५ ॥

व्याख्या—भावना शुभभावना बिना दानार्हदर्चातप स्वाध्यायाध्यनादि सर्वमनुष्ठान क्रियाकरण निष्फल स्यात् । दान प्रसिद्ध च अर्हदर्चा देवपूजा च तपश्च स्वाध्यायश्च ते आदौ यस्य तत् दाननिपूजातप सिद्धातपठनादिक भाव विना नि फल किमिव । नीरागे पुरुषे तरुणी कटाक्षितमिव युवतीकटाक्षविद्येपणमिव । यथा नीरागे नरे तरुणी कटाक्षा निष्फला । पुन किमिव त्यागव्यपेतप्रभौ दानरहिते कृपणे स्वामिनि सेवाकष्ट इव यथा अदातरि स्वामिनि सेवाकष्ट नि फल । पुन किमिव अश्मनि पापाणे अम्भोजन्मना कमलानां उपरोपण वपन इव यथा पापाणोपरिकमलवापन नि फल । पुन किमिव ऊपरक्षितितले ऊपरभूमौ विष्वग् वर्षमिव ययोपरभूमौ सर्वतो मेघवर्षण नि फल तथा शुभभावना बिना सर्वा- क्रिया नि फला ॥ ८५ ॥

अर्थ—जैसे वीतरागी पुरुष के सामने युवा स्त्री के कटाक्ष निष्फल हैं, जैसे धन ॥ देने वाले स्वामी की सेवा करना कष्टमात्र है अर्थात् व्यर्थ है, जैसे पत्थर में कमलों का उगाना व्यर्थ है वही प्रकार अनित्य अशरण आदि बारह भावनाओं के चिन्तन बिना दान देना, अरहन्त वीतराग की पूजा करना, तप करना, स्वाध्याय करना कराना आदि सभी क्रियायें निष्फल हैं ।

भावाथ—जैसे एक मिना वि-दी का कोई मूल्य नहीं है उसी प्रकार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्याव्य भावनाओं के बिना और अनित्य अशरण आदि भावनाओं के भाये बिना दान, पूजा, तप, स्वाध्याय आदि अनुष्ठान निष्फल हैं इसलिये उत्तम भावनाओं के साथ साथ ही उत्तम क्रियायें करना उत्तम फलदायक हैं ।



पुनराह—

शादूँलविक्रीडितद्वन्द्व

सर्वं शीप्सति पुण्यमीप्सति दयां धित्मत्यघ मिन्मति ।  
 क्रोध दित्सति दानशीलतपमां साफन्यमादित्सति ॥  
 कल्याणोपचय चिकीर्षति भगवन्मोघेस्तट लिप्सत ।  
 मुक्तिस्त्रीं परिरिप्सते यदि जनस्तद्भाग्येद्वावनाम् ॥८६॥

व्याख्या—यदि मनो लोकं सर्वं वास्तु शीप्सति तावत्  
 इच्छति । पुनर्यदि पुण्य धर्मं इप्सति वाच्छति । पुनर्यदि ज्ञानो दया  
 कृपा पित्सति धर्तुं इच्छति । पुनर्यदि अघ पाप मिहसति मातु इव  
 मिच्छति । पुनर्यदि क्रोध रोष दित्सति स्मरितु इच्छति ।  
 पुनर्यदि दानशीलतपमा साफन्य सफलत्व आदित्सति महीतु-  
 मिच्छति । यदि पुन कल्याणोपचय कल्याणपुष्टिं चिकीर्षति कर्तुं  
 वाच्छति । पुनर्यदि भगवन्मोघे समारसमुद्रस्य तट पार लिप्सति  
 लब्धुमिच्छति । पुनर्यदि मुक्तिस्त्री सिद्धिरमणी परिरिप्सते आलिं-  
 गितुमिच्छति जनस्तदा भावना शुभभाव भावयेत् कुर्यादित्यर्थः ॥८६॥

अर्थ—यदि मनुष्य सर्वज्ञ होने की इच्छा करता है, पुण्य  
 की वाञ्छा करता है, दया धारण करना चाहता है पापों को नाश  
 करना चाहता है, क्रोध को भेदन करना चाहता है दान शील तप  
 की सफलता चाहता है, निरन्तर कल्याण करने की चाह रखता है  
 ससार रूपी समुद्र के किनारे पर आना चाहता है और मुक्ति स्त्री के  
 धारण की इच्छा रखता है तो निरन्तर धारण भावना भावे अर्थात्  
 चि तबन करे इन भावनाओं के चिन्तन करने से शान्तिरस क

अनुभव होता है, घैराग्य भावों की वृद्धि होती है अतः भावनायें सदा भावने योग्य हैं ।

पुनर्विशेषमाह—

पृथ्वीछन्द

‘ निवेक्षणसारिणीं प्रशमशर्मसंजीविनीं ।  
भगार्णमहातरीं मदनदागमेधावलीं ॥  
चलाक्षमृगजागुरा गुरुकपायशैलाशनिं ।  
निमुक्तिपथवेसरीं भवत मानना किं परैः ॥८७॥

व्याख्या—ओ भक्त्या । भावना शुभपरिणामरूपा भजत  
सैवध्व परै रयै कष्टालुष्ठानै शुभभावरहितै किं न किंचिदित्यर्थ ।  
कथभूता भावना विवेक कृत्याकृत्यविचार एव धन तत्र सारणि  
कृत्या ता । पुन प्रशमशर्मण धपशमसुरास्य सजीवनीजीवनकर्त्ता ता ।  
पुन किंभूता भव एव मसार एव अण्व समुद्रस्तत्र महातरीं महा-  
नाथ । पुन किं भूता मदन एव दाबी दागनिस्तत्र मेघत्यावलीं  
मेणि । पुन किं भूता चलानि चचलानि यानि अक्षाणि इन्द्रिया-  
ण्येव मृगा हरिणास्तेषु बागुरां मृगजाल पाशबन्धन । पुन किं भूता  
गुरुर्गोरिष्ठरचतु कपायरूप एव शैल पर्वत तत्र अशनिं वज्र । पुन  
किं भूता विमुक्तै सिद्धे पंचास्तत्र वेसरीं अश्वतरीं सवभारवाहिका  
सत्माच्छुभभावनामिव कुर्वन्तु ॥ ८७ ॥

अर्थ—ओ विवेक रूपो धनको सिंचनपरजेके लिये वृद्धिम नदी  
समान है तहर-समान है, शांतिभाव रूप सुख की सजीवनी औषधि  
है, ससार रूपी समुद्र के तिरने के लिए महान् नौका है, काम रूपी

दावानल को शांत करने के लिये मेघमाला है, चंचल इन्द्रिय रूपी  
 विरण को पड़ने का जाल [ पाश ] है, प्रबल कषाय रूपी पर्वत को  
 भेदन करने के लिये वज्रके समान और मुक्ति के मार्ग में शीघ्र  
 तथा गमन करने के लिये खच्चरी के समान है ऐसी भावना सदा  
 भजने ( भावने ) योग्य है दूसरे कार्यों से कुछ लाभ नहीं है ।

भार्य—अन्य सभी कार्यों को छोड़ कर भावनाओं का  
 निरंतर चिंतन करना चाहिए । इसी भावना के बल से अनादि  
 काल से चली आई पर पदार्थों को अपनानरूप पर परिणति दूर  
 हट कर, स्वपरिणति ( आत्मा की भावना ) जागृत होती है अर्थात्  
 मिथ्यास्वपरिणति रूप ■ प्रकार नष्ट होता है, हृदय में सम्यक्त्व  
 ज्योतिष्का आविभाष [ प्रगट ] होता है । इसीसे प्राणिमात्र का  
 कल्याण होता है ।

पुनराह—

शिरस्त्रिणीध्वज

घन दत्त निष्ठ जिनवचनमभ्यस्तमसिल ।

क्रियाकाण्ड चण्ड रचितमवनौ सुप्तमसकृत् ॥

तपस्तीव्र तप्त चरणमपि चीर्णं चिरतर ।

न चेच्चित्ते मायस्तुपपनयत्सर्वमफलम् ॥८८॥

व्याख्या—घन प्रचुर निष्ठ घन पात्रेभ्यो दत्त । पुनरसिल  
 समस्त जिनवचन जिनागमरूप अभ्यासपठित । पुनरचण्ड भीम क्रिया-  
 काण्ड लोपादि रचित कृत । पुनरवनौ भूमौ असदृश द्वार द्वार सुप्त  
 शयनं कृत । पुनस्तीव्र दुःखर तपस्तप्त तप कृत । पुनरचरण चारित्र्य

चित्ररं बहुकाल चीर्णं सेवितं पालितं परं चेद्यदि चित्ते हृदि भाषो न  
गुमभावना नास्ति तदा ध्यायस्य तुषवपनम् मर्वा पूर्वोक्त विफल  
स्यात् अत्र मरुदेवी भरत प्रसन्न चन्द्राज्जर्पाणां कथा ॥ ८८ ॥

### इति भावना प्रक्रम

अर्थ—जिसने जीवन में बहुत धन का दान दिया समस्त  
शास्त्रों का अभ्यास किया, मन्त्रगुह किया काण्ड भी किया, सदा  
पृथ्वी पर ही कष्ट सहन करता हुआ शयन किया, चोर तपस्या की,  
चिरकाल तर चारित्र्य का भी पालन किया, किन्तु यदि भावना  
वृत्तन नहीं है अर्थात् आत्मचित्तजन पूर्वक ये कार्य नहीं किये तो  
तुष ( धान के दल्लके ) के बोने के समान सब क्रियाकाण्ड  
निष्फल है ।

भावार्थ—जैसे तुष के वपन ( बोना ) करने से धावल  
वत्पत्र नहीं होता अतः तुष का बोना व्यर्थ है इसी प्रकार शुद्ध भावना  
अर्थात् निर्मल भावों के बिना उत्कृष्ट क्रियाकाण्ड करना भी निष्फल  
है इसलिये प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि निरंतर निर्मल भावना  
रखे, न जाने कब परमव सम्बन्धी आयु का वध हो जाय । आयु  
वध के योग्य आठ अपकर्ष काल माने गये हैं ( जिसका विशेष  
वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्ड, राजवार्तिक, आदि ग्रन्थोंसे जानना )  
उन आठ अपकर्ष कालों के समय जिस जीव के जैसे निर्मल या  
मलिन परिणाम होते हैं तदनुसार ही सुगति कुगति सम्बन्धी आयु  
का वध जीवों के हो जाता है जिसका हटाना असम्भव है । हा,  
परमव सम्बन्धी आयु की स्थिति का अपकर्ष, उत्कर्ष तो हो सकता

है पर उसका सर्वथा क्षय (सदीरणा) असम्भव है अतः सदैव सद्भावना जीवन की सफलता का सूचक है।

अथ वैराग्यमाह—

हरिणीदम्ब

यदशुभरजः पाथो हृत्तेन्द्रियद्विरदाहुरा ।

कुशलसुसुमोद्यान माद्यन्मनःकपिशृङ्खला ॥

विरतिरमणीलीलावेरम स्मरञ्जरमेवमम् ।

शिवपथरथस्तद्वैराग्य विमृश्य भगवतः ॥८९॥

व्याख्या—जो मुने । तद्वैराग्य विमृश्य चित्तविधाऽमय  
संसारहितो भव । तत्किं तद्वैराग्य अशुभ पापमेव रजोघूर्णितप्र  
पाथोजल तदुपशमकृतवान् । पुनर्यन् वैराग्य माद्यन् मदो-मत्तो-मन  
एव कपिर्नानरस्तथापि लला निगडो बन्धन । पुन किं विशिष्ट  
कुशलमेव कुसुमानि तेषां वद्यान मुत्तराराम । पुनरुत्तमानि इति त्रयाण्येव  
द्विरदा गजास्तेषां अशुशं वश्यकर । पुनर्यन् विरतिरमणी लीलावेरम  
विरतिरमणी देशविरतिरेव रमणी स्त्री तस्या एव लीलावेरमप्रीडागृह ।  
पुनर्यन् स्मरञ्जरमेवमम् एव उवरस्तस्थोपम कम्पञ्जरीपथ । पुनर्यन्  
शिवपथरथ मोक्षमार्गे रथसमान । तद्वैराग्य विमृश्य विचार्य अभव  
संसारभयरहितो भव ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो वैराग्य पाप रूपी धूल के बहाने के लिये जल के  
समान है मदो-मत्त हृद्त्रय रूपी हाथी को वश में करने के लिये  
अशुश समान है, जो कल्याण रूपी पुष्पों के बाग समान है, मदो-  
मत्त मन रूपी बन्दर को वश करने के लिये साकल समान

विरति रूपी श्री के व्रीडा-गृह समान है, काम रूप वर को नाश करने को औपधि समान है, और जो मोक्षमार्ग में ले जाने के लिये रथ समान है ऐसे वैराग्य का हृदय में चितवन करके हे भव्य ! तूम निर्भय बनो । ऐसा जान कर निरन्तर वैराग्य का चि वन करना चाहिये ।

पुनराह—

वसततिलकादन्द

चण्डानिल' स्फुरितमब्दचयं द्वात्रिं ।

धृक्षत्रज तिमिरमण्डलमर्षविम्वम् ॥

धज महीध्रनिनह नयते ययन्तं ।

वैराग्यमेकमपि कर्म तथा समुत्तम ॥१०॥

व्याख्या—यथा चण्डानिल प्रसङ्गादु श्रुतिं अत्राप्य मेघघटात् अत विनाश नयते प्रापयति । पुन रंश शार्ङ्गवैदु श्रुतिं द्वात्रिं-  
धृक्षं द्रुमसमूह अत प्रापयति । पुनर्यथा अहस्मिन् दृष्टेऽस्मिन् तिमिरमण्डल  
अधकारसमूह अत नयते । पुनर्यथा वज्र शत्रुनाशनिष्ठ दवंद-  
समूह अत विनाश नयति प्रापयति । औपधि शब्दो वैराग्यमेकं कर्म अत नयति ॥ ६० ॥

अर्थ—जैसे प्रचण्ड पवन वृक्षों को नष्ट कर देता है, दावानल पृथ्वी के समूह को नष्ट कर देता है, मूर्ख विम्व अधकार राशि को नाश कर देता है, वज्र पर्वत सदा को नाश कर देता है, वैसे ही एक वैराग्य एक कर्मों को नष्ट कर देता है ।

भावार्थ—वैराग्य परिणति का अद्भुत माहात्म्य है। वैराग्य परिणति से भव मवा तरों के संचित कर्म एरु क्षण में नाश हो जाते हैं। भर्तृहरि कृत नीतिशतक में कहा है —

भोगे रोगभय क्लेशे व्युतिभय विचे नृपालाद् भयम् ।

मौने दैयभय यत्ने रिपुभय रूपे जराया भयम् ॥

शास्त्रे वादभय गुणे यत्नभय काये कृतात्ताद्भयम् ।

सर्गं वातु भयावित भुवि नृणा वैराग्यमेशभयम् ॥ १ ॥

अर्थ—ससार के भोगों में रोग का डर रहता है अर्थात् भोग भोगने के कारण रोग प्राप्त हो जाते हैं कुल में पतित होने का भय रहता है, अर्थात् दुराचार के कारण व्यक्ति कुलसे पतित हो जाता है अधिक धनी हो जाने पर राजा द्वारा धन छीने जाने का भय रहा करता है, मौन धारण में दीनता का भय रहता है, यत्न में शत्रु के आक्रमण का भय बना रहता है, रूपवान् ( सुन्दर ) होने पर भी सुढापे का भय है क्योंकि वृद्धावस्था में रूप नष्ट हो जाता है अनेक शास्त्रों का पाठी हो जाने पर भी वाद विवाद का भय रहता है, गुणवान् होने पर भी दुर्णों से भय बना रहता है, उत्तम बलिष्ठ शरीर प्राप्त हो जाने पर भी कालसे प्रसित होने का भय रहता है। इस प्रकार सासारिक पदार्थों में सर्वत्र भय का अन्देश है। एक वैराग्य ही ऐसा है जो भयरहित है। जिस समय ससार देह, भोगों के स्वरूप को चिन्तन कर मनुष्य के हृदय में वैराग्य की भावना जागृत हो जाती है दुर्घर दिगम्बर दीक्षा धारण में दृढ़ विश्वास हो जाता है उस समय उस वैराग्य रूपी दृढ़ श्रद्धा को तोड़ने में कोई

भी माइसी सामना नहीं कर सकता अर्थात् अनेकों भय के कारणों का प्रदर्शन किये जाने पर भी वह वीर वीरांगी पुरुष अपने दृढ़ एवं अकाट्य विचारों से मुह नहीं मोड़ेंता किन्तु वैराग्यावस्था धारण कर ही लेता है इसलिये कहा है वीराग्य ही अभय है ।

शिररिणीछन्द

नमस्या देवानां चरणवरिवस्या शुभगुरो- ।

स्तपस्या निःसीमक्लमपदमुपास्या गुणवर्ता ॥

निपथारण्ये स्यात्करणदमविद्या च शिवदा ।

विरागः क्रूरागक्षपणनिपुणोऽन्तः स्फुरति चेत् ॥९१॥

व्याख्या—चेद्व यदि अतः चित्ते विरागो वैराग्यम् स्फुरति वर्तते तदा देवानां नमस्या नमस्करणं शिवदा मोक्षदायिनी स्यात् । पुनः शुभगुरो चरणवरिवस्या स्यात् चरणयोः सेवा तदा शिवदा स्यात् । पुनः निःसीमक्लमपदम् अत्यन्तभ्रमपद ईदृशी तपस्या तदैव शिवदा स्यात् । पुनः गुणवर्ता ज्ञानादिगुणपुञ्जानां उपास्या सेवापि तदैव शिवदा स्यात् । पुनररण्ये वर्तते निपद्यास्थितिस्तदैव शिवदा स्यात् । पुनः करणदमविद्या इन्द्रियदमनविधिरपि तदैव शिवदा स्यात् । यदि अतर्मध्ये विरागो भवति । कथमूतो विरागि क्रूरागक्षपणनिपुणः क्रूरघोर यदागोऽपराधरतस्यक्षपणे क्षयकरणे निपुणश्चतुर ॥ ९१ ॥

अर्थ—यदि तीव्र पापों के क्षय करने की सामर्थ्य वाला वैराग्य भाव हृदय में स्फुरायमान ( प्रगट ) हो जाय तो देवाधिदेव वीतराग का नमस्कार कार्यकारी हो जाय अथवा वीतराग देव की पूजा सफल हो जाय, गुरुओं के चरण कमलोंकी उपामना सफल हो



जाय मर्यादा रहित क्लेश देने वाली सपस्याकार्यकारी हो जाय, गुण-  
वानों की उपामना कार्यकारी हो जाय, धनमें योगासन करना सफल  
हो जाय मुक्ति पद देने वाली इन्द्रिय के दमन की विद्या सफल  
हो जाय ।

भावार्थ—धीतराग भाव बिना कोई भी कार्य कार्यकारी  
नहीं है इसलिये धीतराग भाव का अवलम्बन ही कार्यकारी है ।

विरक्तगुणमाह—

शादूलविकीरितध्वज

भोगान्कृष्णसृजंममोगविषमान् राज्य रजः सन्निभ ।

धधून्धनिबधनानि विषयग्राम विपान्नोपम ॥

भूति भूतिसहोदरां वृणतुल स्रेण विदित्वा त्यजन् ।

तेष्वासक्तिमनाविलो विलमते मुक्तिं विरक्तः पुमान् ॥९२॥

व्याख्या—विरक्तो वैराग्ययुक्त पुमान् मुक्तिं विलभते सिद्धिं  
प्राप्नोति किं कृत्वा भोगान् शब्दादीन् कृष्णसृजंममोगविषमान् कृष्ण-  
रचासौ भुजगं सर्पस्तस्य भोगं शरीरं सद्बद्धं विषमान् भीमाम् विदित्वा  
ज्ञात्वा तेषु आत्मासक्तिं अत्यमिलापत्यजन् । पुनः राज्य आधिपत्यं रजः  
सन्निभं धूलिसदृशं मत्वा त्यजन् । पुनर्धधून्धजनान् कर्मबन्धस्य निब-  
धनानि कारयानि मत्वा । पुनर्विषयग्रामं विषयसमूहं विपान्नोपमं  
विषमिन्निधानसमं मत्वा । पुनर्भूतिं श्रद्धिं भूतिसहोदरां मत्समगिनीं  
रक्षासदृशीं मत्वा । पुनर्ज्ञेयं स्त्रीणां समूहं वृणमिव वृणसदृशं विदित्वा  
तेषु आसक्तिं अत्यमिलाप्य त्यजन् । कथमूखो विरक्तः पुमान् अनाविलं  
रागद्वेषाद्यनाकुलः ॥ ९२ ॥

इति वैराग्यप्रक्रमः ।

अर्थ—निरक्त पुरुष ससार के विषय भोगों को काले सर्प के कण के समान भयकर जानकर, राज्य को धूलि के समान जानकर, माई आदि कुटुम्बी जनों को घाव के कारण जानकर, इन्द्रिय विषयों को विष मिश्रित अन्न के समान जानकर, धन धान्यादि विभूतिको 'माम' की धड़िन समान जानकर, खोजनित सुख को वृणतुल्य जानकर वन पदार्थों में अर्थात् भोग, राज्य, धन, विभूति, स्त्री में आसक्ति को छोड़कर अत्यन्त विगुह होया हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है।

भाषार्थ—ये इन्द्रिय—भोगादि महान् दुःखदाई हैं इनको त्याग कर, निरक्ति धारण कर, मुक्ति पद की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहना ही मानव मात्र का कर्तव्य है।

अथ सामान्योपदेशमाह—

उपेन्द्रवत्सा ह्रद

जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्ति ।

सत्मानुकम्पा शुभपात्रदानं ।

गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य ।

नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि ॥९३॥

व्याख्या—नृजन्मवृक्षस्य, मनुष्यजन्मवत्स्ये अमूनि फलानि

एतैः कृत्वा मनुजजन्मसफलं भवति । अमूनि कानि प्रथम तावज्जिनेन्द्रपूजा श्रीवीतरागदेवस्य पूजा कार्यं । पुनः गुरुणा पर्युपास्ति सेवा कार्यं । पुनः सत्माना जीवाना अनुकृपा दया कार्यं । पुनः शुभपात्रे

दान देय । पुन गुणेषु अनुराग गुणप्रदयेण रति कार्या । पुन  
आगमस्यसिद्धा तस्यश्रुति श्रवणकाय । एभि दृष्ट्वामनुष्यज-मसफल  
स्यात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—योत्तरात जिनेन्द्र देव की प्रतिदिन पूजा करना,  
दिगम्बर साधुओं की सेवा सुश्रूषा करना, समस्त प्राणियों पर दया  
का भाव रखना ( अर्थात् “आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समा  
चरेत्” । अपने से विरुद्ध व्यवहार दूसरों के साथ मत करो ) जैसे  
प्रत्येक पुरुष को अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही दूसरे के प्राण समझे ।  
ऐसा हात कर सब जीवों पर दया की परिणति रखना चाहिये ),  
पात्र सुपात्रों को भद्धा पूर्वक दान देना, गुणों में श्रुति करना ( गुण-  
वान् धर्मात्मा पुरुषों के अवलोकन मात्र से ही हृदय में हर्ष की  
लहरी प्लावित हो जाय या यह उठे ऐसा हर्ष प्रगट करना ), जैन  
शास्त्रों का सुनना अध्ययन शास्त्रों का पठन पाठन मनन आदि अभ्यास  
करना, ये मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के फल हैं । इन पट्टकर्मों के  
आचरण करने से ही मनुष्य जन्म की शोभा-शोभाजनक है । मनुष्य  
जन्म धारण करके यदि उपरोक्त पट्टकर्मों का पालन जीवन में नहीं  
किया तो मनुष्य पर्याय पाना इस प्रकार निष्फल है जैसे कि ऊपर  
भूमि में बोझ-धपन करना ( बोझ ) व्यर्थ है अथवा पापाण पर  
कमलों का वन लगाने के समान निष्फल है । इसलिये प्रतिदिन प्रत्येक  
गृहस्थ का कर्तव्य है कि परस्पर विरोध रहित इन पट्टकर्मों के  
आचरण से अपने जीवन-विटप को हरा भरा बनाये रखें ।



## जितरिणीछन्द

त्रिसन्ध्य देवार्चा विरचय चयं प्रापय यशः ।

धियो पात्रे पाप जनय नयमार्गं नय मनः ॥

स्मरक्रोधाद्वारीन्दलय कलय प्राणिषु दया ।

जिनोक्त सिद्धान्त शृणु शृणु जवान्मुक्तिकमला ॥९४॥

व्याख्या—त्रिसन्ध्य त्रिकाल प्रभाते मध्याह्ने सायं च देवार्चा शीवीतरागपूजा विरचय कुरु । पुन यश कीर्तिचय वृद्धिं प्रापय । धियो लक्ष्म्या पात्रे मुपात्रे पाप जनय वप । पुनर्मन चित्त नयमार्गं न्यायमार्गं प्रति नय । पुन स्मरक्रोधाद्वारीन् कामक्रोधमानमापा-लोभादीन् अरीन् शत्रून् दलय दण्डय । पुन प्राणिषु जीरेषु दया कलय कुरु । पुन जिनोक्त अहं प्रणीत सिद्धान्त सूत्र शृणु । एतानि कृत्वा जघात् वेगात् मुक्तिकमलां शिवमित्र शृणु वरय ॥ ९४ ॥

अर्थ—हे भव्य । प्रातः काल मध्याह्नकाल और सायंकाल इन तीन कालों में शीतरागदेव की पूजा करो, यशसमूह [ कीर्ति को ] प्राप्त करो, पात्रों को दान देकर लक्ष्मी का यौज बोओ, मन को न्यायमार्ग में लगाओ, कामक्रोधादि वैरियों को विध्वंस करो, सद्य प्राणियों पर दया करो, शीतराग देवका कहा हुआ सिद्धान्त सुनो और शीघ्र ही मुक्ति रूपी लक्ष्मी का धरण करो ।

भाषार्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भाई ! अनन्त काल से कठिनता से प्राप्त किये गये इस मनुष्य भव को पाकर ऊपर कहे गये कार्यों को करो ताकि मोक्ष लक्ष्मी तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त हो ।

## शाङ्ख्यविक्रीडितप्रद

कृत्वा हस्तपूजनं यतिजनं नत्वा विदित्वागमं ।  
 हित्वा सगमधर्मकर्मठधिया पात्रेषु दत्त्वा धनं ॥  
 गत्वा पद्धतिमुत्तमक्रमजुषा नित्यान्तरारिघ्नं ।  
 स्मृत्या पञ्चनमस्त्रियां पुरु करकोटस्थमिष्टं सुखं ॥९५॥

व्याख्या—भो भ्रातृ ! एतानि कृत्वा इष्टं वाञ्छितं सुखं कर-  
 कोटस्थं हस्तोत्सर्गं करप्राप्य कुरु । किं कृत्वा अर्हस्तपूजनं यीश्वराग-  
 चरणपूजां कृत्वा । पुनर्यतिजनं साधुजनं नत्वा । पुनरागमं सिद्धांतं  
 विदित्वा ज्ञात्वा श्रुत्वा । पुनः अधर्मकर्मठधिया पापासत्तमुद्धीनां सग-  
 मसर्गं त्यक्त्वा परित्यज्य । पुनः पात्रेषु निजं धनं वित्तं दत्त्वा । पुनः  
 उत्तमक्रमजुषा उत्तममार्गसेविना पद्धतिं मार्गं प्रति गत्वा अनुश्रित्य  
 आन्तरारिघ्नं अन्तरगारिषद्भुवर्गं आन्ध्रतरं चैरिसमूहं जित्वा । पुनः  
 पञ्चनमस्त्रियां नमस्कारमत्र स्मृत्वा भ्यात्मा इष्टसुखं करप्राप्य  
 कुरु विधेहि ॥ ९५ ॥

अर्थ—हे भव्यात्मन् ! भेरिह त देव के चरण कमलों की  
 पूजा करके, आचार्य उपाध्याय साधुजनों को नमस्कार करके, जिन-  
 भाषित शास्त्रों को जान करके, निरन्तर अधर्म काय में रत रहने  
 वाले दुष्ट पुरुषों की संगति छोड़ करके, पात्रों में दान देकर उत्तम  
 आचरण के धारी सत्पुरुषों के मार्ग का अनुकरण करके अन्तरिक्ष  
 के रागद्वेष कामक्रोधादि शत्रुओं को जीत करके और 'एमो भरहता  
 एमो' इत्यादि पंच नमस्कार मंत्र का जाप करके 'इष्ट' सुख मोक्ष के  
 सुख को अपने हस्त के मध्य प्राप्त करो ।

हरिणीछन्द

प्रसरति यथा कीर्तिर्दिक्षु सपाकरसोदराऽ-

भ्युदयजननी याति स्फीतिं यथा गुणमततिः ।

कलयति यथा वृद्धिं धर्मः कुरुर्महतिक्षमः ।

कुशलसुलभे न्याये कार्यं तथा पथि वर्तनम् ॥९६॥

व्याख्या—न्याये न्यायोपपन्ने पथि मार्गे तथा प्रवर्तन कार्यं प्रवर्तनं कार्यं यथा चतुर्षु दिक्षु सपाकरसोदरा चन्द्रकिरणवदुज्ज्वला कीर्तिं प्रसरति स्फुरति विस्तारति । पुनर्यथा अभ्युदयजननी उदय-कारिका गुणसन्तति गुणश्रेणि स्फीतिं याति विस्तारं व्रजति । पुनर्यथा कुरुर्महतौ पापहनने क्षम समर्थो धर्मो वृद्धिं कलयति वृद्धिं प्राप्नोति । तथा न्याये पथि न्यायमार्गे प्रवर्तन कार्यं । कथंभूते न्याये पथि कुशलै-रचतुरपुरुषैः सुलभ सुपाप सुखेन लभ्यस्तस्मिन् ॥ ९६ ॥

अर्थ—हे भव्य पुरुष । जैसे चन्द्रमा की चादनी के समान निर्मल कीर्तिं दशों दिशाओं में फैले, जैसे-स्वर्गादि सुखप्रद गुणों के समूह स्फुरावमान हों, और जैसे छोटे धर्मों का नाश करने में समर्थ धर्म वृद्धि को प्राप्त हो इस प्रकार कल्याण है सुलभ जिसमें, ऐसे न्याय मार्ग में प्रवर्तन करना चाहिये ।

भावार्थ—प्रत्येक पुरुष को ऐसे न्याय मार्ग का अनुसरण करना चाहिये जिससे दशों दिशाओं में उसकी धवल कीर्ति फैले, दोष मन्तति दूर होकर आत्मा में सम्यक्त्व आदि गुण प्रगट हों, धर्मकी वृद्धि पथ प्रभावना प्रगट हो । ऐसा आचार्य श्री का उपदेश है जिसे पालन करना पव अपना जीवन तद्रूप बनाना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है ।

## शितरिणीध्वज

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमन ।  
 मुखे सत्या वाणी श्रुतमधिगतं च श्रवणयो ॥  
 हृदि स्वच्छा वृत्ति विजयि भुजयो पीरुपमहो ।  
 विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मदनमिदं ॥९७॥

व्याख्या—अहो आश्चर्ये प्रकृतिमहता स्वभावेनोत्तमाना पु सा ऐश्वर्येण साम्राज्येन विनापि इदं मदन अस्ति इदमिति किं । करे हाते त्यागो दान श्लाघ्यो मदन न ककणादि । पुन शिरसि गुरुणा पादयोरचरणयो प्रणमन नमस्कारकरणमेव मदन न मुकुट तिलकादीनि । मुखे सत्या वाक्येव मदन न शान्द्यूलादि । श्रवणयो कणयो अधिगत पठित श्रुत शास्त्रमेव मदन न कुडलादि । हृदि हृदये स्वच्छा निर्मला वृत्ति व्यापार एव मदन न हारमालादि । भुजयो बाहोर्विजयि जयनशील पीरुप पराक्रमो धर्मरिपये यदूचल तदेव मदन न कयूरादि । महता पु सा धन विनापीदमेव मदन ॥९७॥

अर्थ—हाथोंमें प्रशस्तनीय दान, मस्तक में निर्मल गुरुओं के चरणकमल को नमस्कार, मुख में सत्य वचन, कणों में प्राप्त हुआ शास्त्र ज्ञान, हृदय में निर्मल विचार और भुजाओं में सबको विजय करने वाला परुषार्थ, अहो यद्वा आश्चर्य है कि सज्जन पुरुषों का यह भूषण ऐश्वर्य विना ही होता है ।

भावार्थ—सज्जन पुरुष स्वभाव से ही अपने हाथों से दान देते हैं । दिगम्बर निर्मल गुरुओं के चरणारविन्द को विनय पूर्वक मस्तक से नमस्कार करते हैं मुख से सदा सत्य भाषण करते हैं,

कणों से पवित्र जैनसिद्धांत के शास्त्रों का प्रथण करते हैं, जिसके हृदय में सर्वदा निर्मल विचार धारा प्रवाहित रहती है और जिनकी मुद्राओं में सर्व विषयो पुरुषार्थ विद्यमान रहता है। ऊपर कहे गये वही कार्य सज्जन पुरुषों के आभूषण हैं। अन्य सोने चांदी के आभूषण तो कहने मात्र के हैं उनसे मनुष्य जन्म की शोभा नहीं है और न उनसे आत्मा का उत्थान होता है। अतः सज्जन महा पुरुषों के उपरोक्त गुण उपदेय हैं, उन्हीं से आत्माओं का कल्याण हुआ है और हागा।

### शितारिणीछन्द

भवारण्य मुक्त्वा यदि जिगमिषुमुक्तिनगरीं ।

तदानीं मा कार्षीं विषयविषयक्षेपु वसति ॥

यतरह्याप्येषां प्रथयति महामोहमचिरा— ।

दय जन्तुर्यम्मात्पदमपि न गन्तु प्रमयति ॥९८॥

व्याख्या—भो आत्मा । यदि चेद्व भवारण्य ससाररूपा अटवी मुक्त्वा त्यक्त्वा मुक्तिनगरीं सिद्धिपुरीं प्रति जिगमिषुरसि गतुकामोसि तदानीं त्व विषयविषयक्षेपु विषया एव विषयवृक्षास्तेषु वसति निवाम मा कार्षीं मां व्यवा कृत यस्मात्कारणात् एषा विषयविषयवृक्षाणां छायापि महामोह महदज्ञान प्रथयति विस्तारयति । यस्मात् महामोहादय जन्तु प्राणी अचिराद् वेगात् पदमपि गन्तु एक पादमपि पलितु न शक्नोति किन्तु स्थावरत्वं प्राप्नोति ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे भव्य । यदि तू ससार रूप मयस्वर वन को छोड़कर मुक्ति रूपी नगरी के प्रति गमन करने की इच्छा करता है तो इन्द्रियों



के विषय रूपी विष वृक्षों पर निगास मत कर । क्योंकि 'इन विषय रूपी वृक्षों की छाया भी शीघ्र ही महामोह को उत्पन्न कर देती है । जिस महान मोहमें कैसकर प्राणी एक पैर भी आगे नहीं चल सकता ।

भाषार्थ—इन्द्रियों के विषय विष वृक्षों के समान हैं । इनको सेवन करने वाला या इन विषयों में अवा हुआ [ अनुरक्त हुआ ] प्राणी कदापि मोक्ष पद प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिये मुमुक्षु [ मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक ] मध्य पुरुष को कदापि इन विषय वासनाओं का सेवन [ससग] नहीं करना चाहिये किन्तु इन विषयों को किम्पाक [ किन्दूरी ] फल-समान जान कर त्याग करने का ही लक्ष्य रखना चाहिये । और उस लक्ष्यकी सिद्धिमें अनेकों सकटों का सामना भी करना पड़े तो भी उसकी परवाह न करके सतत प्रयत्न-शील रहना चाहिये । तथा आत्म-निर्भर होकर एव सहिष्णु बन कर उन सकटों-आपत्तियों को समताके साथ सहन करना चाहिये । जब तक इस मार्ग का अनुसरण नहीं किया जायगा तब तक कदापि कोई भी पुरुष अपने लक्ष्यकी सिद्धि तक नहीं पहुँच सकेगा यह एक निश्चित सिद्धांत है । इसी में प्रत्येक प्राणी का कल्याण निहित है । आधुनिक भौतिकवाद विचार के लोग भले ही उस मुमुक्षु को बुरा बतावें, उसकी निंदा करें, उसे कायर कहें या मार्ग-शियलता के अनेकों प्रलोभन प्रदर्शन करें परन्तु उस दूषित वातावरण की ओर दृष्टिपात न करके अपने लक्ष्य की सिद्धि में आगे बढ़ता ही चला जाये ।

अमितगति आचाराचार में आचार्य अमितताति ने कितना  
श्रेष्ठ प्रतिपादन किया है —

मूर्खापवादप्रसनेन धर्मं,

मुञ्चन्ति सत्तो न पुधार्चनीयम् ।

सत्तो हि क्षीय परमाणुमात्रो,

धर्मव्युदासे गिरिराजतुल्यम् ॥

आशय यह है कि अज्ञानियों द्वारा अपवाद किये जाने पर  
एवं पीड़ित किये जाने पर भी सज्जन मुमुक्षु पुरुष अपने लक्ष्यभूत  
धर्म को कभी नहीं छोड़ते क्योंकि वर्तमान समयका दुःख तो परमाणु  
मात्र है जो कि नहीं के बराबर है किन्तु परके अपवादादि से धर्म  
को छोड़ देने में सुमेरु पर्वत तुल्य तर्क निगोद के दुःखों को भोगना  
पड़ता है जिसमें असंख्यात अनन्त भय दुःखों में ही व्यतीत होते हैं ।  
इसलिये धर्म मार्ग में सदा कटिबद्ध रहना चाहिये । और भी  
अमितगति आचार्य ने कहा है —

सर्वेऽपि भावाः सुखकारिणोऽमी ।

मर्वात धर्मेण विना न पु साम् ॥

तिष्ठन्ति वृक्षाः फलपुष्पयुक्ताः ।

कालं कियन्त सन्तु मूलहीना ॥

संसार में जितने पदार्थ सुखकर प्रतीत होते हैं या सुखदाई  
देखे जाते हैं उनमें का एक मात्र कारण धर्म सेवन ही है, धर्म  
सेवा के फल से ही सब सुख के साधन सुलभता से उपलब्ध होते  
हैं वर सदा सुखकर सामग्री का समागम बना रहता है । विना

धर्म पालन के पापरूप प्रवृत्ति से कोई भी पदार्थ सुखकर सिद्ध नहीं हो सकता जैसे कि फल फूट पत्ते वाले पृश्न जिनकी कि जड़ें काट दी गई वे कितने समय तक हरे भरे रह सकते हैं ? किन्तु किञ्चित्काल के परचाम् ही वे मुरझाकर शोभाविहीन विरूप प्रतीत होने लग जाते हैं । इसी प्रकार धनमत्ता रहित प्राणी के लिये कोई भी पदार्थ सुखकर नहीं हो सकता । उसके लिये तो मारा ससार शून्य अधिकारमय हो जाता है । इसलिए जो भव्य पुरुष धर्म की रक्षा करते हैं धन को मत्तापूर्णक धारण करते हैं । सधन उनकी रक्षा करने वाले सैकड़ों हजारों माधन सुलभता से अनायास ही आकर प्राप्त हो जाते हैं । अतः धर्म से बढ़ कर कोई भेद्य पदार्थ सेवा योग्य नहीं है, धर्म ही जीवन का प्राणधार है, सर्वाधार है और सब असार है ॥६८॥

इन्द्रवज्राद्य

सोमप्रभाचार्यप्रभा च लोके ।

वस्तुप्रकारां कुरुते यथाशु ॥

तथाप्यमुच्चैरुपदेशलेशः,

शुभोत्सवज्ञानगुणास्तनोति ॥ ९९ ॥

व्याख्या—यथा तेन प्रकारेण लोके सुवने सोमप्रभा, चन्द्र-  
प्रभा, आचार्य प्रभा, आचार्य प्रतिभा च आशु शीघ्र वस्तुप्रकारा घट-  
पटादिपदार्थप्रकारा कुरुते विदधाति तथा तेन प्रकारेण अयं अयमाय  
उपदेशलेश सूक्तिमुक्तावलिरूप समुपदेश एवं वरकृष्टान् शुभोत्सव

ज्ञानगुणान् रुच्याणुप्रदज्ञानगुणान् तजोति विस्तारयति अत्र श्लेषेण  
मन्त्रा 'सोमप्रमाचार्य' इति स्वनामापि सूचितम् ॥ ६६ ॥

'इति सामा-यप्रक्रम

अर्थ—जिस प्रकार लोक में चन्द्रमा की प्रभा और आचार्यों  
की प्रभा [ प्रतिभा ] शीघ्र ही वस्तुओं [ पदार्थों ] का ज्ञान कराती  
है वही प्रकार यह आदर्श स्वरूप किञ्चित् आचार्य का उपदेश भी  
अनेकों शुभ कल्याण तथा ज्ञानादि गुणों का विस्तार करनेवाला  
है। अतः भक्त्यात्माओं का कर्तव्य है कि अद्यापूर्वक इस उपदेश को  
हृदयङ्गम करें।

। अथ प्रशस्तिमाह

मालिनीछन्द

अभजदजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रि- ।

धुमणिविजयसिंहाचार्यपादारविन्दे ॥

मधुकरसमतां यस्तेन सोमप्रमेण ।

। उपरचि मुनिपराक्षा सूक्तिमुक्तावलीय । १०० ।

व्याख्या—तेन सोमप्रमेण 'मुनिपराक्षा मुनिषा मुनिभेदा  
तेषां राजा मूरीश्वरस्तेन मुनिपराक्षा 'सूरीश्वरेण इय सूक्तिमुक्तावली  
'सूक्ता-येय सुभाषितान्येष 'शोभनप्रस्तावकाभ्याम्येव मुक्ता मौक्तिक-  
फानि मुक्ताफलानि तेषां आवली' श्री गुरुपरचि रचिता तेन केन च  
सोमप्रम अभजितदेवनामाचार्यस्य पट्टं एव उदयाद्रिकदयाचल तत्र  
धुमणि सूर्यसमान विजयसिंहाचार्यस्य पादारविन्दे चरणकमले

सधुकरसमता भ्रमरतुल्यता अभवत् अप्रापत् । पूर्वं अजितदेवाचार्यं  
स्तत्पट्टे विजयसिंहाचार्यंस्तत्पट्टे सोमप्रभाचार्यंस्तेनेय सिंदूरप्रकर-  
नामसूक्तिमुक्तावली व्यवचि कृता ॥ १०० ॥

सोमप्रभसूरिणा विरचिता सूक्तिमुक्तावली समाप्ता ।

अथ—जो अजितदेव आचार्य क पट्टरूपी उदयाचल पर  
सूर्य समान विजयसिंह आचार्य के चरण रूपी कमलों में भ्रमर की  
समता करता था ( अर्थात् चरण कमलों का सेवक था ) उस सोम-  
प्रभ आचार्य ने यह सूक्तिमुक्तावली ( उत्तम वचन रूप मोतियों की  
माला ) नामक ग्रन्थ रचा ।

नोट—‘इति श्रीसिंदूरप्रकराख्यस्य व्याख्याया हर्षकीर्तिभिः सूरिभिः  
विहिताया सामान्यप्रक्रमोऽङ्गति ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

१ प्रत्येक प्रकरण की समाप्ति पर यह पुष्पिका वाक्य है ।

१०६ पृष्ठ का यह ८१ वाँ श्लोक है—

। पात्रे धर्मनिवन्धनतद्वितरे<sup>१</sup>, श्रेष्ठ दवाद्यापक ।

मित्रे प्रीतिविवध<sup>२</sup> रिपुजने, वैराग्यहारक्षम ॥

भृत्ये भक्तिमरावह नरपत्नी समाप्तपादक<sup>३</sup> ।

मृष्टादौ सुयशस्कर<sup>४</sup> वितरण, न क्वाप्यहो निष्कल ॥८१॥

इति दान प्रक्रम

१ धर्मोत्थ कारण २ अपात्रे ३ दान विहित दत्त सत् ।

१. १. १. श्रीमफलेकीर्त्याधार्यविरचिता

## पञ्चपरमेष्ठिस्तुतिः

नामैवादिनिनेश्वरान्, मुनितुतान्, नाकाधिपै पूनितान् ।  
अतावीनगुणार्णवान् सुविमलान् विश्वप्रकाशारमकान् ॥  
ससारान्युधितारकान् भवभृता बधूपमान् स्वामिन ।  
वदे तद्गुणहेतरेऽत्र गिरसा मुक्त्यङ्गनारागिण ॥ १ ॥

१. अखिलभुवनसेव्यान् सर्वलोकाग्रमूल्यान् ।

॥ निरुपमसुगुणयुक्तास्त्यक्तसमारदु खान् ॥

१. वरधमुगुणमूपान् ज्ञानदेहान् विशुद्धयै ।

ह्यचलविभवपूर्णान् सस्तुते सिद्धिनायान् ॥ २ ॥

१. पञ्चाचारमपारसौम्यसदन ये प्राचरति स्वय ।

॥ शिष्याणां मुनिनायका शिष्यकरा आचारयन्त्येव, च ॥

तेषां पादसरोरुहा, नयहरा-नाचारशुद्धयै सदा ।

सूरीणां मण्यमानि भक्तिसहितो मूर्धनोऽघशास्त्र्यै मुदा ॥ ३ ॥

ये पठति सकलागममेव, पाठयति शिष्यं वरशिष्याम् ।

ते स्तुता मम दिशन्तु गुणौघान्, पाठका स्वरूपयात्मभवाश्च ॥ ४ ॥

ये साधयति चरणं सुरसरस्नवार्धि ।

॥ दृष्टान्तशुद्धमनिश विविधं च योग ॥

१. आतापनादिजमपीह दिशन्तु ते मे ।

॥ श्रीसाधवोऽत्र नमिता एगुणान् गरिष्ठान् ॥ ५ ॥

अहं-तस्त्रिजगद्बुधार्चितपदा समुक्तिमुक्तिप्रदा ।

सिद्धा येऽष्टगुणाङ्किता अवपुषो ये सूरयोऽध्यापका

पञ्चाचारपराधर्णाश्च निपुणा श्रीसाधवो निस्पृहा

ते, व, द्याश्च मयाऽखिला निजगुणान् सर्वान् प्रददुर्मम ॥ ६ ॥

१. १. १. इति पञ्चगुरुस्तुति ।

## १०८ श्रीआचार्यकल्प श्रीश्रुतसागरस्तुतिः

सिद्धातवेदी श्रुतपारगो यः, वाग्मी पटुः सतत्रयरसनधारी ।  
 अकिञ्चन शीलगुणाकररचः, नमाम्यहं श्रीश्रुतसागरं त ॥ १ ॥  
 स्वाध्यायनिष्ठो यमिना वरिष्ठः श्रेष्ठो विरागी महता महिष्ठः ।  
 क्येष्ठो मुनीशो गुणिना गरिष्ठः ईडे सदा त महिमाविशिष्टः ॥ २ ॥  
 त्यक्त्वा सुपुत्रादि कुटुम्बिकान् धर्मानुपूला रमणीमनिन्द्या ।  
 भीषोरसिन्धुः गुरुमाप मोदाद् दीक्षां श्रितो जातजिनेन्द्ररूपा ॥ ३ ॥  
 श्रुताम्बरे धर्मकुले मुञ्जन् देगम्बरे धर्मपथे दृढीयान् ।  
 दिग्बलसृमोक्षपयानुरागी वन्दे मुनीन्द्रं श्रुतसागरं त ॥ ४ ॥  
 नित्यं हि सूरैरनुकूलवृत्तिं कुर्वत्यसौ रत्नं सूरिकल्पः ।  
 त्यागी सदाध्यात्मिकबोधनिष्ठः कीर्वादसौ वर्षशतं पूजिष्या ॥ ५ ॥  
 भव्याब्जनीनां स विभास्वरः सन् मता धृताम्भोनिधिपूर्णचन्द्रः ।  
 विवादिनागर्बविराट्कनायः स्याद्वाग्वाग्मयुतः स्तुये त ॥ ६ ॥  
 अभ्यात्ममूर्तिं किल सयमी च यः सशयश्चातहरो विवशान् ।  
 योगी सदाभिश्चयतश्च विरचः स्तुतेऽपि त मद्व्यवहारविद्वत् ॥ ७ ॥  
 नयाम्नैर्वाग्भिरसीवदह्यै रचचासभाया रत्नं लब्धकीर्तिं ।  
 युक्त्या महत्याः स्फुटयत्यशेषं तत्त्वं भुक्तान्धिं समहं प्रयन्दे ॥ ८ ॥  
 वाससक्यमूर्तिरचः कृपापयोधिः सधे गरीयान् किल साधुवर्गे ।  
 साध्वीरचः श्राद्धान् मृदुमिष्टवाक्यैः सतोपयस्तं शिरसा नमामि ॥ ९ ॥  
 नमोस्तु ते धमधुर धराय नमोस्तु ते भव्यद्वितकराय ।  
 नमोस्तु ते धोधिसमाधिमाने नमोस्तु ते माधुगणार्चिताय ॥ १० ॥  
 नमोस्तु मुनिवर्यः । ते सकलतापहृत्पद्ममा ।  
 नमोस्तु गुणवत्सलस्य गुणरसननिधये च ते ॥  
 क्रियाद्धि जगता शिवं मधुरवाक् सुधा वर्पयन् ।  
 पुनातु भविता मनः शुचिचरित्रपूतो भवान् ॥  
 मया सस्तूयते नित्यं श्रुतसिन्धुर्मुनीश्वरः ।  
 कुर्याच्छिव सुभक्त्याय महा च वगतेऽपि च ॥

## श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

[ अ ]

	श्लोक	पृष्ठ
अदत्त नादत्ते	३४	४६
अपारे असारे	७	११
अमनश्चित्तदेव	१००	१३३
अवद्यमुक्ते यधि	१३	२०
असत्यमप्रत्यय	३१	४३

[ आ ]

आश्रमानं कृपथेन	६६	८६
आयुर्दीयतर यपु	२८	३६

[ औ ]

औचित्याचरण	५१	६७
------------	----	----

[ क ]

कदाचिन्नातङ्क	११	१७
करै श्लाघ्यस्याग	६७	१२८
कलहकलभविध्य	४२	५६
का तार न यथेतरो	८३	११०
कालुष्य जनयन्	४१	५५
किं ध्यानेन भवत्य	१६	२४
क्रीडाभू सुकृतस्य	२५	३६
कुशलजननवध्या	५३	६६
कृत्वाहंरपदपूजन	६५	१२६

[ घ ]

घन दत्त विध	८८	११६
-------------	----	-----

[ च ]

चण्डालिल सुगति	६०	११६
----------------	----	-----



	श्लोक	पृष्ठ
चारिध्र चितुते तनोति	७७	१०१
[ क ]		
सात करपतकः	६०	७८
निनेद्रपूजा गुरु	६३	१२३
[ छ ]		
समभिलषति	३३	४५
सस्यास-ना रति	८०	१०६
सस्याग्निजल मण्डप	३२	४४
ते घत्तरतक धपन्ति	६	१०
सोयस्यग्निरपि	४०	५३
त्रिसध्य देवार्चा	६४	१२५
त्रिवर्ग ससाधन	३	५
[ द ]		
दक्षतेज जगत्स्य	३७	५०
दायादा स्पृहयन्ति	७४	६६
दारिद्र्य न समीक्षते	७८	१०३
[ घ ]		
घसा मीनमगार	७१	६२
घमध्वस धुरी	७२	६३
घर्ग अस्तदयो	६५	८४
घर्ग आगरयत्तय	२०	२६
[ न ]		
न देव नादेव	१७	२६
न म्रुते परदूषण	६४	८२

	श्लोक	पृष्ठ
नमोऽथ देवानां	६१	१२१
निम्न गच्छति निम्नगोत्र	७३	६५
निशेषधर्मजनदाह	६६	७६
नीचस्यापि चिर	७५	६८
नीरागे तूष्णी	८५	११२

## [ प ]

परजनमन पीडा	३६	४८
पाप लुम्पति दुर्गतिं	६	१४
पात्रे धर्म निधधन	८१	१३४
पिता माता भ्राता	१५	२२
पीयूष विषवज्जड	१६	२८
प्रत्यर्थी प्रशमस्य	४३	६८
प्रतिष्ठा यः नष्टा	७७	६१
प्रसरति यथा कीर्ति	६६	१२७

## [ फ ]

फलति कलितश्रेय	४६	६१
----------------	----	----

## [ ब ]

भवाग्नय मुक्त्वा यदि	६८	१२६
भक्ति तीर्थकरे गुरौ	८	१२
भोगान् कृष्णभुजङ्ग	६२	१२२

## [ म ]

मानुष्य विफल वदति	१८	२७
मायामविश्वास	३५	७२
मुग्धप्रतारणपरा	३६	७३
मुष्णाति यः कृत	३२	६८

मूल मोहविषद्रुमाय	श्लोक २८	पृष्ठ ७५
[ य ]		
■ ससार निरास	२२	३२
■ प्राप्य दुष्प्राप्य	४	७
य पुष्पैर्विनमर्षति	१०	१६
यत्पूर्वार्जितफलं शैल	८१	१०७
यद्भक्ते फलमर्हदादि	२४	३५
यदि प्राप्ता तोये	२६	३७
यद्गुभरज	८६	११८
यद्दुर्गामटवी	२७	७४
यन्निवर्तित कीर्ति	३५	४७
यशो यामाद्	३०	४२
यभावाविर्भवति	४६	६५
यामाद्विष्णुपश्यरा	८२	१०६
यो घर्मदहति	४८	६३
यो मित्र मघुनो	४५	६०

[ २ ]

रत्नानामिव रोहण	२१	३१
-----------------	----	----

[ ७ ]

लब्धु युद्धिकला	६७	८६
लक्ष्मी कामयते	७६	१०५
लक्ष्मी तत् स्वयम्	२३	३४
लक्ष्मी सर्पति	७६	६६

[ ४ ]

यत् विमलवर्ण्यता	६३	८१
------------------	----	----

	श्लोक	पृष्ठ
वर क्षिप्रं पाणि	६१	७६
वद्वि स्तृप्यति	४४	४६
विदलयति कुजोध	१४	२१
विषाय माया विप्रिध	५४	७१
विरेकवनसारिणी	८०	११५
विश्रामायतन	२६	४१
व्याघ्र व्याल अलानला	३८	५१

[ श ]

शमालान भञ्जत्	५०	६६
---------------	----	----

[ स ]

स कमलपतमग्ने	२७	३८
सर्गं क्षीप्यति	८६	११४
सत सतु मम प्रसन्न	२	३
सत्ताप तनुते	४७	६२
सतोपथूलमूल	८४	१११
सिद्धुरप्रकरस्तप	१	१
सोमप्रभाचायप्रभा	६६	१३२
सौजयमेव विदधाति	६२	८०
स्वर्गैस्तस्य गृहाङ्गण	१०	१५
स्वर्णैरधाले क्षिपति	५	८

[ ह ]

हरति कुमतिं भित्ते	६६	८५
हरति कुलकलङ्क	३६	५२
हिमति महिमाभोजे	६८	८७

## टीकागतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ
भङ्गस्थाने मवेच्छील	५४
भयिनो धत्तमप्राप्य	६७
कलौ काले चले चित्ते	३३
कि जपियेन बहुला	६
कुरङ्गमातङ्ग	६०
गवाशमाना ल वच	८८
छित्तिगतमिष	१०२
चोखल्य पासय	७
जिने भक्ति जिने	१७
खामजिणा जिखशामा	१६
दसणभट्टो भट्टा	२१
द्वेपेडवि बोधकउच	७८
धर्मार्थकाममोक्षाणा	६
भोगे रोगभय	१२०
माताप्येका पिताप्येक	८८
मूर्खापवादप्रसनेन	१३१
शुचिभूमिगत	५५
सर्जेडवि भावा	१३१

## टीकाकर्तुः प्रशस्तिः

तपोमणे नागपुरीषपूर्वे श्रीचन्द्रकीर्त्याह्वयस्वरिराजा ।  
 तेषां निनेयर्पमहर्षकीर्तिस्वरीश्वरो शुचिमिमामकार्षीत् ॥

१४३  
शुद्धि पत्र

पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	सद्गुरुणा	सद्गुरुणा
१	११	ओतृन्	ओतृन्
२	११	ज्ञान	ज्ञान
२	११	प्रारम्भे	प्रारम्भे
३	१६	यानय	यानया
७	५	अयनर	अयपुननैर
६	२	निद्रा	निद्राम्नेह
६	१०	एन्धभार	एधभार
६	१७	माचरता	माचरता च
१०	१६	काचखण्ड	काचखण्ड
१०	२१	माराधयता	माराधयता च
१०	२०	श्रीधर्म	श्रीजिनधर्म
१२	१	श्रीधर्म	श्रीजिनधर्म
१२	११	द्वारेण	द्वार
१२	२०	भक्ति	भक्ति
१४	४	भक्तिपूजाद्वार	भक्तिद्वार
१४	१०	भक्ष्य	भक्ष्य ।
१४	२०	कुर्वता	कुर्वता च
१६	१२	यो	पुनर्येन श्रीजिनं
१६	१६	जिनपूजा	जिनपूजातुति
१६	१६	पूजाविधिस्तुति	पूजातुतिविधि तु
		अनेन	आगनाञ्जात्वा तेनैव
१६	२२	यावदय	यावदय
२१	४	सेवमानाना	सेवमानाना सता
२३	१०	पथ	पथमूतो
२३	११	पतन्त	पतन्त सन्त

पृष्ठ	पं०	अनुसू	शुद्ध
२३	१४	अधम	अधम
२३	१८	च	च सता
२५	१	स्वल्पफल	स्वल्पफल
२४	२३	गुरो	गुरो शासन भयनाशन मसार परिभ्रमणधारण यतोयेनैकन
२६	६	न विलोक-ते	पुन किं न विलोक-ते अदेव कुदे
२६	६	पुन	पुन किं न विलोक-ते
२६	१०	पुन	पुन किं न विलोक-ते
२६	१०	कुगुरु	कुगुरु
२६	११	पुन	पुनः किं न विलोक ते
२६	१२	पुन	पुन किं न विलोक-ते
२६	१३	पुन	पुन किं न विलोक-ते
२६	१४	पश्यति	पश्यति
२६	१४	पुन	पुन किं न विलोक ते
२६	१५	पुन	पुन किं न विलोक-ते
२६	१६	सचातुर्य	सुचातुर्य
२६	१७	हित	हित सुख
२६	१७	सुखकारण	सुखकारण च
२६	१७	च	दुःख
२६	१७	अशुभकारण	दुःखकारण
२६	१८	कुर्वता	तच्छ्रवण कुर्वता
२७	१६	श्रुत	श्रुत किं विशिष्ट समय दयारसमय दया कृपा एव रसो गुण स्तेन निमित्तो यो स दयारसमयो दयागुण प्रधान इत्यथ

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२८	३	भाव	भाव
२८	१०	कुर्वता	तन्द्गीकार कुर्वता
३०	३	धर्मस्य	धर्मस्य
३०	७	मिथ्यामति	मिथ्यामति
३०	८	तन्नोति	वितन्नोति
३०	११	प्रणीतमिद्वान्त	श्रीनिनप्रणीतमिद्वान्त
३०	१२	आराधयता	सदाराधयता
३१	१६	दनि	भो भव्यप्राणिन् ! इति
३३	३	य	य मता
३४	१०	रभसा	रभसाद्
३४	१२	चकठ	चरकचठया
३४	१४	त	त जिन
३५	१०	कृत	कृत्वा
३५	१६	यस्मिन्	तस्मिन्
३६	८	सस्येषु	सर्वसस्येषु
३६	८	मित्यय	मित्याह
३६	१२	क्लेशो	क्लेशौ
३६	२२	पुन कथमूता त्रिदि-	त्रिदिक्त्वयं एव ओको
		योकस नि भेषि	गृह सस्य' नि भेषि
			सौपानपक्ति
३७	२२	उदयति	उदयते
३७	२२	पुन	पुन यदि
३८	३	प्रसूयते	प्रसूते
३८	२१	तथा	तथा चरगरक्त्रादमृत
			सर्पमुगान् पीयूषमभिलपति
४०	६	स्वामित्व	तथा स्वामित्व



पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
४०	११	सर्वे	सर्वेषु
४२	६	पुनरसत्यवचनस्य	असामत्यवचनस्य
४२	१३	तत् किं	तत् किं
४५	३	सत्यमेव	सत्यमेव वच्य
४९	२	वाच्यवृत्ति	वाच्यवृत्ति
४६	३	रिक्तत्वादि	रचक्रित्वादि
४७	२०	दोग्गत्यैक	दोग्गत्यैक
४८	५	सर्वांगस	सर्वांगासि
४८	८	विरचित	विरचित कृत
४८	१०	अदश	अदत्त द्रव्य
४९	१०	पुरागंला	पुरागंल
५२	३८	वै १लोक काअयं ३६ वै में ३६ वै का अयं ३८ वै पर पदं	
५५	१७	अविलम्ब	आविलम्ब
५८	१३	विविक्तमना	विरिक्तात्मना
५६	१३	घनैरपि	घनै
५६	१४	द्रव्य	द्रव्यै
६०	२१	सप्ताच्छिपो	सप्ताक्षिपो
६१	१	सोदरोग्ने	सोदरो
६१	१	चैतनस्य	चैत यस्य
६१	२	विना सह भोगशिने	विनाशने
६५	६	भोचित्य	भौचित्य
६५	१०	कष्टारूप	कष्टरूप
६६	२०	विक्षिपन्	विक्षिपन्
६६	२१	विनयनय	विनयवन
६७	१	न्यायश्रेणि	वनश्रेणि
६७	२१	विलम्पति	विलुम्पति

पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
६८	३	मत्तगनो	मतङ्गज
७१	६	सुगान्	सुखाद्
७१	१०	सुसान्	सुसात्
७३	३	मुञ्जहीते	मुञ्जिहीते
१४	१६	कपण क्षेत्रादि	क्षेत्रादिकर्पण
१७	१७	राजघटात्	गजघटान्त
१४	१८	मर्पति	मपन्ति
१४	१८	लिङ्गत्व	लिङ्गत्वान्नपु सकत्व
१५	२०	अरणीकाष्ट	अरणि काष्ठ
३१	६	चरितात्मना	चरितार्जिता
३१	१७	—	न तु न
३१	१७	शेफाजाता	शेफसजाता
८४	१	गुणसङ्ग	निर्गुणिसङ्ग
८४	४	शमदया	शमदयै
८५	४	अल्पमेधा	अल्पमेध
८४	१६	तथा	अत
८५	१७	व्याख्या	व्याख्या
८६	२०	तत्तदा	तर्हि त्व
८६	२१	विचरतु	विचरितु
८७	१	पुण्य समाधेविनु समीहसे	×
		कथ	न कथमपि
८८	६	निर्गुणमङ्ग	निर्गुणिसङ्ग
८८	१२	निर्गुणस्रगम	निर्गुणिस्रगम
८६	१५	×	मम तस्य च पक्षि
			अह मुनिभिरानीत
			स च नीतो गवाश
१२	१२	विधिप्रागल्भ्य	विधिप्रागल्भ्य

पृष्ठ	प०	अंगुष्ठ	शृङ्ख
१७	१७	पर	×
१४	६	कुमते	कुपये
१४	६	कुरिसतमते	कुरिसतपये
१५	१४	सुखे	×
१५	१५	अधत्ता	अधत्ता
१५	१५	दत्ते	धत्ते
१८	१७	स्वेद	×
१०३	२६	भिया	भिया
१०४	४	परिभवन	परिभवो
१०८	११	सपदैव	सपदेव
११८	१०	ससारहितो	ससारहितो
११८	१२	अधने	अधने
११८	१५	विरतिरमणी	विरति
११८	१५	देशविरति	मवशेशविरति
११८	१५	एव	×
११३	१३	मेघघ टात	मेघसमूह
१२१	१३	स्थात	भवेत्
१२४	१	गुणमहणेण	गुणमहणे
१२५	७	यश	यशश्चय



